

कैलाश मानसरोवर का शिव-तीर्थ तिब्बत

तिब्बत भारत की उत्तरी सीमा से लगा हुआ है। भगवान शिव का निवास क्षेत्र कैलाश पर्वत और मानसरोवर अब उसी प्रदेश में हैं। प्राचीन काल में यह भिन्नता न थी। हिमालय का उत्तराखण्ड गंगोत्री से लेकर कैलाश तक फैला हुआ था। योगी, तपस्वी वहाँ निवास करते थे और तीर्थयात्री जाया ही करते थे। तब उस क्षेत्र में पूरी तरह भारतीय धर्म ही प्रचलित था।

समय के कुचक्के ने बहुत कुछ इधर-उधर किया। हृदय का संपर्क पेट से न रहे और रक्तवाहिनियाँ वहाँ तक प्रवाह जारी न रखें तो स्वभावतः लकवा मार जाएगा। भारत जब समस्त विश्व को मार्गदर्शन करने की क्षमता को खो बैठा और विलासिता तथा स्वार्थपरता को अपना लिया, तो फिर अपनी छोटी सी कोठरी को संभालना भी कठिन पड़ गया। तब उसी पर दूसरे लोग आक्रमण करके अधिकार जमाने लगे। ऐसी हालत में दूसरे देशों में प्रकाश फैलाने का उत्तरदायित्व कौन संभालता? यदि संभाला न जाए तो सुरम्य उद्यान कुछ समय में झाड़-झांखाड़ों से भरा अनगढ़ एवं अस्त-व्यस्त हो जाता है। समीपवर्ती देश भारत के सहयोग से वंचित होकर अपने-अपने ढंग के विखराव में फँस गए। ऐसे ही प्रदेशों में एक भाग तिब्बत का भी है।

बौद्ध धर्म का तिब्बत में प्रवेश होने पर वह पुरानी कड़ी फिर से जुड़ गई। बीच का विच्छेद काल बहुत लंबा रहा। फिर भी बौद्ध प्रचारकों ने वहाँ जाकर देखा कि हिंदू धर्म की प्राचीन मान्यताएँ यहाँ किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं। देव-उपासना का क्रम भी प्रायः वैसा ही चल रहा है। यद्यपि उसमें विकृतियों की भरमार होने

से अवांछनीय तत्त्वों की मात्रा बहुत बढ़ गई थी। बौद्ध धर्म के प्रयोग ने वहाँ नव-जीवन का संचार किया और तिष्ठत को फिर से भारत के समीप ला दिया।

तिष्ठत भौगोलिक दृष्टि से भारत के समीप है, किंतु बौद्ध धर्म वहाँ लंका, खोतान, चीन, कोरिया, जापान में धर्म-विजय करने के पश्चात पहुँचा, इसका प्रधान कारण यातायात की कठिनाई-मार्ग की अत्यंत दुर्गमता ही थी। जो पर्वत शृंखलाएँ एवं सघन वन प्रदेश दोनों देशों को अलग करते थे, वे ऐसे जटिल थे कि उन्हें पार करना जीवन और मरण की प्रत्यक्ष चुनौती को स्वीकार करने के बराबर था। उस देश में बौद्ध धर्म सातवीं शताब्दी में पहुँचा और उस प्रथल में प्रचारकों को असाधारण दुस्साहस का परिचय देना पड़ा।

इसके पूर्व वहाँ बहुदेववादी-बलिपूजक 'पानन्धर्म' का प्रचलन था। बौद्ध धर्म ने वहाँ प्रवेश किया, वे दोनों एक-दूसरे से घुले-मिले। दोनों ने अपना स्वरूप बदला और एक नए मध्यवर्ती धर्म का रूप धारण कर लिया। अभी भी वहाँ ऐसे धर्म का प्रचलन है, जिसमें बौद्ध शिक्षा की प्रधानता है और पान-धर्म का सम्मिश्रण है, तो कहीं इसके विपरीत ऐसे पान-धर्म का प्रचार है, जिसमें बौद्ध मान्यताएँ भी गझराई तक मिली-जुली हैं। दक्षिणी-पूर्वीय तिष्ठत में बने चुंबीघाटी के चार विहार पान धर्म के हैं। बुद्ध मूर्तियाँ और अवतारी पद्मसंभव की मूर्तियाँ बौद्ध विहारों की तरह इनमें भी स्थापित हैं। धर्म ग्रंथ भी अधिकतर मिलते-जुलते ही हैं। मतभेद इतना कम है कि देवताओं के पूजा विधानों और ग्रंथों के नामों में अंतर के अतिरिक्त और कोई बड़ी भिन्नता दिखाई नहीं पड़ती। पान "ओम मंत्रे सुये सलेदु" मंत्र की उपासना करते हैं और बौद्ध उसी को 'ओम मनि षे मे हुन्' उच्चारण के साथ जपते हैं। अर्थ दोनों का एक ही होता है।

यों बौद्ध धर्म लंका, वर्मा, मेसापापेटामिया, मेसीडोनिया और मिश्र आदि में इसा से पूर्व तीसरी शताब्दी में ही पहुँच चुका था। सन्

५६ में मध्य एशिया के खोतान प्रांत में भी फलने-फूलने लगा था। सन् ३७२ में कोरिया को और ५३८ में जापान को उसने प्रभावित कर लिया था, पर भारत की सीमा से लगे हुए तिब्बत में वह सन् ५८० ई० के पहले न पहुँच सका। उसका एक कारण तो मार्ग की दुर्गमता था और दूसरा उस क्षेत्र के लोगों में संव्याप्त अशिक्षा और पूर्व मान्यताओं के प्रति अंधविश्वास भरी कट्टरता था।

'दी रिलीजन ऑफ तिब्बत' ग्रंथ के अनुसार बौद्ध प्रचारकों ने चतुर्थ शताब्दी में वहाँ धर्म-विजय का प्रकाश पहुँचाने का प्रयत्न किया था पर वहाँ निरक्षता का साम्राज्य होने से विशेष सफलता न मिली। राजा से लेकर प्रजा तक किसी को लिखना-पढ़ना नहीं आता था। 'लो सेम सो' और 'लितिसे' आदि विद्वानों को इसी कठिनाई से हार मान कर पीछे लौटना पड़ा।

सन् ६२९ में तिब्बत की गद्दी पर 'सोंगहेन गम पो' बैठा। उसने अपने पड़ौसी देशों में बुद्ध धर्म की उत्साह भरी चर्चा सुनी। उसका लाभ लेने के लिए उसका भी जी चाहा। अस्तु, अपने प्रतिभाशाली कर्मचारी 'तानमिस वो ता' के नेतृत्व में सोलह कुशाग्र बुद्धिमान व्यक्तियों का जत्था भारतीय भाषा और बौद्ध धर्म सीखने के लिए भारत भेजा। वह जत्था अठारह वर्ष भारत में रहा। यहाँ उसने तिब्बत के लिए भारतीय वर्णमाला के अनुरूप एक लिपि तैयार की। 'करंड व्यूह सूत्र' और 'अवलोकितेश्वर सूत्र' उसी भाषा तथा लिपि में लिखे। इस तिब्बती लिपि का नाम 'हरहा' रखा और भाषा का 'तान-मि'। पाणिनी के आधार पर व्याकरण बनाया। दल ने वापस तिब्बत लौटकर राजा-प्रजा को लिखना-पढ़ना सिखाया, बौद्ध धर्म तथा उसके ग्रन्थों से परिचय कराया।

तत्कालीन बौद्ध सम्राट 'सोंग-हेन गम पो' बड़ा प्रतापी था। उसने चीन और नेपाल पर चढ़ाइयाँ की। इसका सिलसिला तब टूटा जब चीन और नेपाल नरेशों की पुत्रियाँ उसे वधू रूप में प्राप्त हो गईं। वे दोनों बौद्ध थीं। उनके प्रभाव में आकर राजा ने भी बौद्ध

धर्म स्वीकार कर लिया। उसने पड़ोसी देशों से बौद्ध धर्म प्रचारक बुलाए और कितने ही मंदिर और विहार बनवाए। लहासा राजधानी की उसी ने स्थापना की। उपलब्ध प्राचीन चित्रों में सम्राट् सोंग को धर्मचक्र प्रवर्तक शासक के रूप में चित्रित किया गया है। प्रजा उसे अवतार मानती थी। उसके वंश के राजा 'त्रिदेसक तेन' और 'ति सोंग दे सेन' ने भी इस दिशा में प्रयत्न किए, पर पुरातन पान-धर्मों प्रजा और सरकारी अधिकारियों के विरोध तथा असहयोग के कारण उसमें विशेष सफलता न मिल सकी। इस अवधि में भी कुछ विहार बने और प्रचार जारी रहा।

तिब्बत का प्रामाणिक इतिहास, जिसके आधार पर उस देश की बौद्ध परंपराओं को ठीक से समझा जा सके, सन् ५८० से आरंभ होता है। इसे सन् ७६३ ई० तक खींच ले चलें तो वर्गीकरण की दृष्टि से यह आरंभ युग कहा जाएगा। इसी बीच में भारत में शिक्षित व्यक्तियों की सहायता से तिब्बती लिपि, भाषा, व्याकरण की रचना की गई। लोह पर्वत की सुरम्य गुफा में बैठकर विद्वानों ने यह कार्य चार वर्ष में पूरा किया। यहीं से तिब्बत का सर्वतोमुखी विकास आरंभ होता है। वास्तु कला, शिल्प, व्यवसाय, धर्म, राजनीति शिक्षा, चिकित्सा, यातायात की अनेकों अभिनव योजनाएँ चल पड़ीं।

इसी अवधि में भारत से बौद्ध विद्वान् कुमार, नेपाल से मंजुशील, काशमीर से तुन, चीन से महादेव, थोमिन, धर्मकोश वहाँ पहुँचे। थोमिन ने तिब्बती भाषा में 'करण्डव्यूह सूत्र', 'रत्न मेघ सूत्र', 'कर्मशतक' आदि आठ ग्रंथों का अनुवाद किया। अन्य विद्वानों ने तिब्बतियों को अन्यान्य विषयों का ज्ञान देने वाली पुस्तकें लिखीं।

सम्राट् 'सोंग वचन' ने ६२ वर्ष राज्य करके, ८२ वर्ष की आयु में 'सल भी' नामक स्थान में शरीर त्यागा। उस स्थान पर एक विशाल बौद्ध मंदिर बनाया गया। इसके बाद सन् ६३८ से ६५२ तक 'मंग सोंग' का और ६७० से ७४२ तक 'गचन वर्तन' का शासन रहा। इसके समय में वाणी और लेखनी से भिक्षुगण बौद्ध धर्म की

जड़ जमाने में मंथर गति से लगे रहे। उन परिस्थितियों में तीव्र गति से सफलता मिलने की आशा भी नहीं की जा सकती थी।

सन् ७४२ से ७८५ तक सम्राट् 'खि सोंग' का शासन रहा। उसने बौद्ध धर्म के विस्तार के लिए उत्साह दिखाया। पर पुरातन पंथी मंत्रियों के उस विरोध के कारण उसे अपना हाथ रोकना पड़ा। तो भी उसने दो चीनी भिक्षुओं तथा एक काश्मीरी पंडित अनंत को उस कार्य में लगाए रखा। इसी समय एक तिब्बती भिक्षु ज्ञानेंद्र का उत्साह उमड़ा, वह अधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए भारत आया। वह बोध गया का दर्शन करने के उपरांत नालंदा पहुँचा और वहाँ अध्ययन किया। उन दिनों तिब्बत और भारत का मार्ग नेपाल और मंगयुल होकर ही था। ज्ञानेंद्र की भेंट भारतीय विद्वान शांतिरक्षित से मंगयुल में ही हुई थी। उससे वह बहुत प्रभावित हुआ। सम्राट् को सहमत करके ज्ञानेंद्र फिर मंगयुल लौटा और आचार्य शांति रक्षित को सहमत करके धर्म प्रचार के लिए तिब्बत ले गया। वे प्रसन्नतापूर्वक आए और वहाँ पहले से ही रहते हुए काश्मीरी भिक्षु अनंत के सहयोग से तिब्बत में लेखनी तथा वाणी से कार्य करने लगे। शांतिरक्षित संस्कृत में बोलते थे और अनंत उसका तिब्बती भाषा में अनुवाद किया करते थे। इस प्रकार भाषा संबंधी कठिनाई दूर हुई और शांतिरक्षित ने राजपरिवार को बौद्ध धर्म के प्रति अधिक श्रद्धावान तथा सहयोगी बना दिया। वह दीक्षावान बौद्ध हो गया। इन प्रसार कार्यों में अधिकारियों और प्रजाजनों ने विरोध भी बहुत किया, यहाँ तक कि एक बार शांति रक्षित को तिब्बत छोड़ने के लिए भी विवश होना पड़ा, परंतु परिस्थितियाँ शांत होते ही वे फिर लौट आए और ७५ वर्ष की वृद्धावस्था में भी वे नवयुवकों जैसे उत्साह से धर्म प्रचार करते रहे। उन्होंने अपना स्थायी आश्रम 'सम-पे' स्थान पर बनाया। योजनाबद्ध प्रक्रिया अपनाकर उन दिनों महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न किए गए। ७६२ से विशाल बौद्ध विहार 'वसुम-यश' का निर्माण आरंभ हुआ जो १२ वर्ष तक बनता रहा

और ७७५ में पूरा हुआ। इसमें भिक्षुओं के निवास, शिक्षण आदि की समुचित व्यवस्था की गई। बारह भिक्षुओं ने इस संस्था के संचालन का भार संभाला, इनमें पाँच भारतीय और सात तिब्बती थे। यहाँ अनेक धर्म ग्रंथों का अनुवाद हुआ। सौ वर्ष की पूर्णायु पूरी करके शांति रक्षित सन् ७८० में स्वर्ग सिधारे। उनके अवशेष की सम्मानपूर्ण स्थापना हुई और वहाँ एक ऊँचा स्तूप बनाया गया। तिब्बती उन्हें महापंडित और बोधिसत्त्व के नाम से स्मरण करते हैं।

आचार्य शांतिरक्षित के बाद उनके शिष्य श्रीघोष संघनायक बने। इस काल में भी भारतीय विद्वान तिब्बत जाते रहे। साथ ही चीनी बौद्ध-प्रचारकों के जत्ये भी आते चले गए। इन भारतीय और चीनी प्रचारकों में जातीय मनोमालिन्य का विष फैला और उसने कर्मवादी एवं अकर्मवादी सिद्धांतों की आड़ में उस विवाद को विद्वेष एवं कलह का रूप दे दिया। अंत में इस विवाद को निपटाने के लिए सप्तांश की अध्यक्षता में एक शास्त्रार्थ आयोजित किया गया। एक ओर चीनी भिक्षु ह्वशंग के नेतृत्व में अकर्मण्यतावादियों का दल था, दूसरी ओर कमलशील के नेतृत्व में भारतीय कर्मवादी उपस्थित हुए। शास्त्रार्थ कई दिन चला। उसमें भारतीयों की विजय हुई। निश्चित शर्त के अनुसार ह्वशंग अपने हाथों कमलशील के गले में माला पहना कर उस देश से निर्वासित हो गए। इस पराजय से चीनियों की द्वेषाग्नि और भी भड़की। उन्होंने चार कसाई भेजकर आचार्य कमलशील की हत्या करा डाली।

ऐसे आतंक भरे समय में भी बुद्ध संघ में विमल मित्र, बुद्ध गुह्य, शांति गर्भ, नर्म मख, शाक्याप्रभु, रिनछोन सेद, नर्म पर मितो गप आदि विद्वान वाणी और लेखनी के माध्यम से तिब्बती जनता को बुद्ध संदेश सुनाने में निरत रहे और धर्म चक्र प्रवर्तन में शिथिलता नहीं आने दी।

सन् ७८५-८६ में दो वर्ष तक मुनि वचन पो शासनाध्यक्ष रहा। उसने बुद्ध दर्शन को आर्थिक क्षेत्र में भी उतारने का प्रयत्न किया।

धन का सम वितरण कराया, धनियों को गरीबों के लिए दान देने के लिए विवाश किया। पर श्रम का सम महत्व न होने से उस प्रयेजन का स्थाई परिणाम न निकला। मुफ्त का धन पाकर दरिंदों ने बेरहमी से उसे उड़ा डाला। दूसरी ओर धनियों के हाथ में उपार्जन के साधनों का एकाधिकार रहने से वे फिर पहले जैसे ही धनी बन गए। पूजा तक धर्म सीमित न रखकर उसे अर्थ क्षेत्र में उतारा जाए, यह सामर्थ्यवान लोगों को सहन न हुआ और उस उदार सम्राट की विष देकर हत्या कर दी गई।

सन् ७८७ से ८१७ तक 'मुनि वचन पो' के भाई 'खिल्दे वचन' का शासन काल रहा। उसने भी बौद्ध धर्म में अपने पूर्वजों की भाँति ही निष्ठा रखी। बल्लिस्तान क्षेत्र के 'सकरदो' नगर में एक अच्छा बुद्ध मंदिर बनवाया। अनुवाद की सुव्यवस्था की, भाषा संबंधी प्रचलित दोषों का संशोधन कराया। राजाश्रय पाकर जिनमित्र सुरेंद्र बोधि, रत्नेंद्रशील, मंजुश्री धर्म, जयरक्षित, ज्ञानसेन, धर्मताशील, रत्नरक्षित, बोधिमित्र, दानशील, शैलेन्द्रबोधि आदि भिक्षुओं ने बौद्ध साहित्य का तिब्बती भाषा में सृजन किया और धर्म प्रेरणा का अभियान जनमानस तक पहुँचाया।

सन् ८१७ से ८४७ तक 'रत्न पंचन' का शासन काल रहा। यह राजा अति भावुक था। उसने भिक्षुओं को देवतुल्य सम्मान दिया, यहाँ तक कि शासन व्यवस्था तक उनके हाथ सौंप दी। उसने अपने पुत्र 'चंग मो' को भिक्षु बना दिया। उससे तत्कालीन राजदरबार असंतुष्टि हो गया और उसने सम्राट को मार डाला, रानी ने आत्महत्या कर ली। तब बौद्ध द्वेषी गुलंग दर को गद्दी पर बिठाया। उसने भिक्षुओं को बहुत सताया, बदनाम किया। उस उत्पीड़न से संत्रस्त होकर भिक्षु पड़ोसी राज्यों में भाग गए। स्थिति अस्थ्य हो गई। तो 'लहलुम' नामक बौद्ध भिक्षु ने उसे भी तीर से मार डाला और स्वयं भाग गया। इसके बाद ९०५ से ९२३ तक 'इपल सुंगसू वचन' का शासन हुआ उसने बौद्ध विरोधी कोई कार्य न करके रुष्ट प्रजा को

संतुष्ट किया। आचार-व्यवहार के नियमों को कड़ा किया और दस विद्वानों के नेतृत्व में संघ का कार्य चलाने की व्यवस्था की।

ग्यारहवीं शताब्दी का आरंभ, तिब्बती शासन और संघ के लिए अराजकता का युग कहा जा सकता है। केंद्र कमजोर पड़ने से छोटे-छोटे सामंत राजा बन बैठे। राज-परिवार के लोग अपने-अपने दल बनाकर जहाँ-तहाँ छोटी-छोटी सरदारियाँ बनाने लगे। कुछ भिक्षुओं में जा घुसे। भिक्षुओं ने धर्म-चक्र प्रवर्तन का लक्ष्य छोड़कर तांत्रिक चमत्कारों, विलासिता, वासना तृप्ति पर ध्यान केंद्रित किया।

इस स्थिति से क्षुब्ध होकर 'खोर-ल्दे' ने बौद्ध धर्म की विकृतियों को निरस्त करने की ठान ठानी और नए सिरे से सुधार कार्य हाथ में लिया। इककीस उत्साही युवकों का एक दल काश्मीर अध्ययन के लिए भेजा। कठिन त्रुट प्रभाव का सामना न कर सकने के कारण इन २१ में से दो ही जीवित लौट सके। इस स्थिति से दुःखी होकर राज भिक्षु ज्ञानप्रभा ने निश्चय किया कि विद्यार्थियों को बाहर भेजने की अपेक्षा यही अच्छा है कि भारतीय विद्वानों को अध्ययन के लिए देश में ही बुलाया जाए। अस्तु, विक्रम शिला महाविहार के प्राध्यापक भिक्षु दीपंकर श्रीज्ञान को तिब्बत बुलाया गया। वे सन् १०४२ में मंगरिस पहुँचे। कुछ दिन 'शंग-शुंग' मठ में रहे। इसके बाद उन्होंने साहित्य सृजन और प्रचार प्रवचनों की नई शृंखला बनाई उनका तिब्बती नाम 'आतिशा' पड़ा। उन्होंने अपने जीवन के अंतिम तेरह वर्ष तिब्बत के बौद्ध धर्म के पुनरुद्धार में लगाए और ७३ वर्ष की आयु भोगकर सन् १०५४ में 'सयेलग' स्थान में शरीर त्यागा दिया। उनके अनुवादित एवं संशोधित सैंकड़ों ग्रंथ अभी भी तिब्बत में मौजूद हैं। उन्हों दिनों विद्वान सोमनाथ, लक्ष्मीकर, दानश्री, चंद्र राहुल, गया धर, स्मृति ज्ञान कीर्ति, सूक्ष्म दीर्घ, विभूति चंद्र, ज्ञान प्रभु, शांति प्रभ, सृजन श्रीज्ञान, मंद्र कलश, गुणाकार भद्र आदि भारत से तिब्बत पहुँचे थे, इन्होंने दीपंकर के कार्य में भरपूर सहयोग

दिया तथा उनके पीछे भी उस प्रक्रिया को चलाते रहे। इन्हीं दिनों 'अरन क्लोंग नाग' में एक विशाल विद्यालय स्थापित किया गया।

'चेल्डे' उन दिनों मान सरोवर का शासक था। उसने सन् १०७६ में एक और विद्यालय आरंभ कराया। साथ ही साहित्य सृजन की नई व्यवस्था की। एक उत्साही तिब्बती भिक्षु 'ब्लोल्दन' काशमीर पढ़ने गया। सत्तरह वर्ष पढ़ा। लौटकर शेष जीवन के १३ वर्ष अध्यापन में लगाए। उन्हीं दिनों अतुल दास-सुमति कीर्ति, अमरचंद, कुमार कलश भी वहाँ पहुँचे थे। एक ऐसा ही दूसरा भिक्षु 'त्रिम पुण्स' भी था, जो २३ वर्ष काशमीर में पढ़ा अपने साथ कनक वर्मा, तिल कलश दो अन्य विद्वानों को लेकर लौटा। 'दोस-किय ब्लो ग्रोस' ने तीन बार भारत की यात्रा की थी और यहाँ से बहुमूल्य ग्रंथ उपलब्ध किए थे। 'मिल रस पा' ने अनेकों कविताएँ रचीं और परिद्राजक बनकर घर-घर बुद्ध का संदेश पहुँचाया। उसे मंगोल सरकार का समर्थन मिला और कितने ही वर्ष तिब्बत का शासन संभाला।

बारहवीं शताब्दी के आरंभ में एक गृहस्थ भिक्षु 'दकोर्ग्यल' ने चंग प्रदेश में 'सशक्य' नामक विहार की स्थापना की। यहाँ की आचार संहिता तथा शिक्षा प्रणाली ऐसी उत्कृष्ट थी कि वहाँ से निकले हुए भिक्षु ने केवल तिब्बत में वरन् दूर देशों तक धर्म-विजय अभियान की ज्योति जलाने में बहुत सफलता प्राप्त करते रहे। इन्हीं लोगों ने मंगोलिया में बौद्ध धर्म को अधिकाधिक विस्तृत बनाया। भारत जाकर उन छात्रों ने कुछ सीखा और अपने साथ भारतीय बौद्धों को लेकर लौटे। शाक्य श्री भद्र, संघ श्री, आदि को तिब्बत में रहकर कार्य करने के लिए सहमत करने तथा वहाँ लाने में समर्थ हुए।

भारतीय भिक्षुओं की ज्ञान-साधना के आधार पर उन्हें तिब्बत में चमत्कारी सिद्ध पुरुषों के रूप में पूजा गया था। अशिक्षित और अंधविश्वासी जनता का सम्मान इसी रूप में मिलता भी है। ऐसे

भारतीय सिद्धों की संख्या भी गिनी जाती है और तिब्बती उन्हें अभी तक उसी रूप में मानते, पूजते हैं। भोट साहित्य में उनका उल्लेख सरह पा, शवरपा, लूहि पा, दारिक पा, वज्रधंटा पा, कर्म पा, जलंधर पा, कन्ह गुहा पा आदि ८४ नामों से किया गया है और साथ ही उनके क्रिया कृत्यों का चमत्कारी वर्णन भी जोड़ दिया गया है।

मंगोल सम्राट चंगेज खाँ सन् ११९४ में चीन पर कब्जा करने में सफल हुआ। सन् १२०७ में उसने तिब्बत पर भी अधिकार जमा लिया। इन्हीं दिनों तिब्बती धर्मचार्य 'कुनू दूग' ने अपने प्रतिभाशाली धर्मप्रचारकों का एक जत्था मंगोलिया भेजा, यह सन् १२२२ की बात है। भिक्षु 'फगास पा' और 'फयगन' तत्कालीन सम्राट गौतम से मिले और उसे बौद्ध धर्मानुयायी बनाने में सफल हुए। इसके पश्चात 'सकर मगक्' चीन के मंगोल शासक 'मुन खे' से मिला और उसे अपनी धर्म प्रतिभा से चमत्कृत कर दिया। इन शासकों के सहयोग से धर्म विस्तार का काम और भी सरल हो गया। इसी अवधि में तिब्बती, चीन और मंगोल भाषाओं में बौद्ध साहित्य का अनुवाद उत्साह के साथ होता रहा, इसके लिए भारतीय भिक्षुओं के उस क्षेत्र में पहुँचने का क्रम बराबर चलता रहा।

मरपा ने कई बार भारत-यात्रा की। उपलब्ध ज्ञान को उसने अपने देश में फैलाया। 'मी-ला' की गणना भी इस शृंखला में की जाती है। इन्हीं दिनों मंगोल आक्रमणकारियों ने तिब्बत को हथिया लिया। चंगेज खाँ के पुत्र कुबेलाई खाँ की तूती बोल रही थी। उसने बल्णारिया, सर्विया, हंगरी, रूस, चीन, भारत के एक भाग पर कब्जा करने के साथ-साथ तिब्बत को भी अपने अधिकार में ले लिया। आशंका यह थी कि उससे बौद्ध धर्म को आघात लगेगा पर वैसा हुआ नहीं। कुबेलाईखाँ बीमार पड़ा और उसे बौद्ध भिक्षु 'सा-व्या' के उपचार से लाभ हुआ। तब से वह बौद्ध धर्म को ध्यानपूर्वक सुनने समझने लगा। दूसरे धर्म वालों की बातें भी उसने

सुनी। अंत में सन् १२५६ में सर्व धर्म शास्त्रार्थ के सुनने के बाद उसे यह घोषणा करनी पड़ी-'बौद्ध धर्म हथेली है और ' अन्य धर्म अँगुलियाँ। जिस प्रकार हथेली से अँगुलियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार बौद्ध धर्म से अन्य धर्म निकले हैं।' इसके बाद राजकीय उथल-पुथल का भला-बुरा प्रभाव तो पड़ता रहा, पर उसे सहन करते हुए बुद्ध धर्म तिब्बत में निरंतर आगे ही बढ़ा। 'सा-क्या' के पश्चात 'दो कुंग' 'ता-लुंग' आदि उद्भट विद्वान एवं प्रचारक उसी देश में उत्पन्न हुए, यो शाक्य 'श्री' जैसे प्रचारक भारत में भी पहुँचते रहे।

तिब्बत में बौद्ध-धर्म को नव जीवन देने वाले 'चोंग-ख-प' सन् १३५७ में जन्मे, ये बहुत प्रतिभाशाली थे। छोटी ही आयु में उन्होंने बहुत कुछ पढ़, समझ लिया। सन् १३९६ में 'गंल' के महाविद्यालय की स्थापना, १४०५ में ल्हासा का विशाल संघ-सम्मेलन और उसके लिए भव्य भवन का निर्माण, गक्दिन महाविहार की स्थापना, १४१६ में ब्रह्म सयुंग महा विहार का निर्माण, १४१९ में 'सेर महाविद्यालय' का कार्यरंभ-जैसे जीवंत कर्तृत्व इस बात के साक्षी हैं कि उन्हें धर्म विजय के प्रयास में भारत के जगद्गुरु शंकराचार्य जैसा महा प्रयास करना पड़ा होगा। उनके उत्साही शिष्यों ने भी नए क्रम को मंद नहीं होने दिया। कितने ही शिष्य अपने गुरु के समान ही प्रतिभाशाली और पुरुषार्थी थे। चोंग-ख-प ने अपने थोड़े ही शिष्य बनाए, पर वे सभी परखे हुए थे। उनके अनुयायियों को कठोर अनुशासन में रहना पड़ता था और चरित्र तथा आदर्श की कसौटी पर खरा उतरना पड़ता था।

भारतीय विद्वानों का प्रवाह अब भी तिब्बत की ओर बढ़ रहा था। वे अति दुर्गम मार्ग की कठिनाइयों को सहते हुए, वहाँ के कष्ट-साध्य जीवन को सहन करते हुए, धर्म प्रचार के लिए उत्साह पूर्वक जा रहे थे। उनमें से अधिकांश यह सोचकर ही चलते थे कि अब कदाचित ही लौटना होगा। वररत्न, धर्मपाल भद्र, तारानाथ

कृष्णभद्र के नाम उल्लेखनीय हैं। उन्होंने तिब्बत में वहाँ के छात्रों को शिक्षा देकर सुयोग्य बनाया। उन दिनों 'ब्रह्म संयुग' सेर दा लगन-'बक शिस'-लहुने पो, के विहारों ने विश्वविद्यालय स्तर की प्रगति कर ली थी।

तिब्बत के इतिहास तथा उस पर भारतीय संस्कृति के प्रभाव पर प्रकाश डालने वाले निम्नलिखित ग्रंथ महत्वपूर्ण प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। (१) हुकुजी यूई तथा सुजुकी द्वारा संपादित-'ए कंपलीट कैटेलॉग ऑफ तिब्बतन बुद्धिष्ठ केनन्स' (२) सर चार्लस वैल कृत 'दी रिलीजन ऑफ टिबेट (३) विधुशेखर भट्टाचार्य कृत-'संस्कृत एंड तिब्बेत टेक्ट्स' (४) बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी द्वारा प्रकाशित-संस्कृत टेक्ट्स फ्राम तिब्बत' (५) राहुल सांकृत्यायन द्वारा संपादित-'वार्तिकालंकार ऑफ प्रभाकर गुप्त (६) केंपी०जायसवाल कृत-'विग्रह व्यवर्तिनी' (७) राहुल सांकृत्यायन कृत-'प्रमाण वार्तिक आफ आचार्य धर्मकीर्ति (८) राहुल सांस्कृत्यायन कृत" तिब्बत में बौद्ध धर्म" (९) हीटेल वर्गकृत-'दि हिस्ट्री ऑफ बुद्धिज्ञ इन इतिहास एंड टिबेटा"

तिब्बती साहित्यकारों में 'बु स्तोन' का अनोखा स्थान है। उसने तिब्बत में बिखरे हुए साहित्य का संकलन किया। इस संकलन को उसने दो हिस्सों में बाँटा (१) 'ब्हह हैम्युर'-अर्थात् बुद्ध-वाणी, जिसके सौ खंड हैं। (२) 'वैस्तन हैम्युर'-बुद्ध सिद्धांतों की विवेचनाएँ। इसके २२५ खंड हैं। चौदहवीं शती के मध्य तक वह प्रायः इसी कार्य में आजीवन लगा रहा। यदि उसका यह महान प्रयास नहीं हुआ होता तो शताब्दियों से चल रहा भारतीय तथा तिब्बती विद्वानों का अनुवाद कार्य ऐसे ही अस्त-व्यस्त रहकर नष्ट हो जाता। इस संकलन ने उस सबको सुव्यवस्थित बना दिया।

तिब्बत के एक शासक और भिक्षु 'सा नमुया-सो' मंगोलिया नरेश के नियंत्रण पर वहाँ धर्म प्रचार के लिए गए। उन्होंने बुद्ध-सिद्धांतों का जन-मानस पर गहरा प्रभाव डाला। मंगोल सम्राट

अल्तन खज ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। इस प्रकार उस देश में भी धर्म विजय अभियान को अच्छी सफलता मिल गई। भिक्षु 'सान-मु' को मंगोल नरेश ने 'ताले-लामा' की उपाधि दी। वे एकबार तिब्बत तो लैटे पर उन्हें फिर मंगोलिया जाना पड़ा, जहाँ १५८८ में उनका देहांत हो गया, कहते हैं कि अगले वर्ष वहाँ उनका पुनर्जन्म हुआ और तेरह वर्ष उस देश में रहकर फिर ल्हासा चले आए। इस बालक का नाम था—“यान्-तेन्-ग्या-सो।”

तब से लेकर पिछले दिनों तक एक 'तालेलामा' के मरने के बाद उसका पुनर्जन्म होने और उसे ढूँढ़कर गद्दी पर बिठाए जाने का प्रचलन है। वही शासक होता आया है और वही धर्माचार्य। सन् १७४५ में तिब्बतियों ने विद्रोह करके चीनियों को साम्राज्यवादी शिकंजा जकड़ने की चाल छोड़ने को विवश कर दिया और तिब्बत एक स्वतंत्र राज्य के रूप में हो गया। तब से 'तालेलामा' द्वारा ही उस देश का शासन होता आया है।

तिब्बत का जीवन बहुत कठोर है। वहाँ के नागरिकों को निरंतर प्रकृति से संघर्ष करना पड़ता है। अतएव सुख-सुविधा के साधन कम होते हुए भी वे बलिष्ठ और दीर्घजीवी होते हैं। गेहूँ, जौ, मांस, मख्खन पर उन्हें गुजर करनी पड़ती है। दाल शाक कभी-कभी मिल जाते हैं। पकवान और व्यंजनों का न वहाँ प्रचलन है और न उसके साधन ही उपलब्ध हैं। तिब्बती बौद्ध मांसाहारी हैं, वे भी लंका के बौद्धों की तरह तिल की ओट पहाड़' उक्ति के अनुसार अपनी अहिंसा का पालन करते हैं। अपनी जानकारी में या अपने लिए जानवर न काटा गया हो तो वे दूसरों के कटे जानवर का मांस खरीद कर खाना निर्दोष समाते हैं। हाँ, कंसाई जाति वाले बहिष्कृत जरूर माने जाते हैं। उनकी अलग ही बिरादरी होती है। जानवर को दम घोट कर या गर्दन मरोड़ कर इस ढंग से मारा जाए कि उसके घाव न लगे, तो उस हिंसा को अहिंसा की मर्यादा में ही गिन लिया जाता है।

तिब्बत में कुछ समय पहले तक धार्मिक वातावरण था। साधारणतया पूरी जनता बौद्ध धर्मावलंबी थी। जनसंख्या का दसवां हिस्सा लामाओं के रूप में रहता था। उपासना एवं धर्म परायण व्यक्ति वहाँ लामा बनते थे और उनकी नियत पोशाक पहनते थे। सामान्य नागरिक भी धर्म श्रद्धा से प्रेरित होकर भक्तों को दान देते थे। लामाओं में से सभी परजीवी नहीं होते थे। उनमें से बहुत शिल्प-उद्योगों में निरत रहकर अपनी स्वतंत्र आजीविका कमाते थे और कितने ही सरकारी कर्मचारियों के पद का कार्य सँभालने में अपने श्रम तथा समय का उपयोग करते थे। शरीर और स्वभाव की दृष्टि से तिब्बती साहसी, सुदृढ़ और परिश्रमी होते हैं। साथ ही उनकी प्रकृति में बौद्ध-संस्कृति के अनुरूप दया, नम्रता, संयम और उदारता के भाव भी रहते हैं।

हर घर में छोटा पूजा-स्थान जरूर होता था। तंबुओं में गुजारा करने वाले खानाबदोश पशुपालक तक अपने छाया साधनों में बुद्ध प्रतिमा के समुख दीपक जलाने और प्रार्थना करने के उपक्रम निवाहते हैं। मठों से लेकर सदगृहस्थों के घरों में अखंड घृतदीप की स्थापना रहती थी। तिब्बती लिपि अँग्रेजी की तरह छापने की अलग और लिखने की अलग है। छापने के काम में आने वाली लिपि को 'उदेन' और लिखने में प्रयुक्त होने वाली को 'इ में' कहते हैं।

दलाई लामा तिब्बत का धर्माध्यक्ष और शासक दोनों होता था। लहासा राजधानी में दलाई लामा के निवास तथा शासन संचालन के लिए विशाल दुर्ग जैसा भवन ऊँची पहाड़ी पर बना था, जिसे 'पोताला' कहा जाता था। धर्माध्यक्ष को प्रायः उसी में आजीवन रहना पड़ता था। उसका विस्तार इतना बढ़ा है कि उसे एक छोटा कस्बा कहा जा सकता है। इसका निर्माण ईसा से १३०० वर्ष पूर्व उस देश के राजा ने राजमहल के रूप में किया था। पाँचवें लामा ने इसका बहुत विस्तार किया। वर्तमान इमारत का केंद्रिय कक्ष तेरह मंजिला है। इसमें ३५ मंदिर, ४ ध्यान गुफाएँ, भूतपूर्व दलाई लामाओं

की स्वर्ण मंडित समाधियाँ, संसद-भवन, सरकारी दफ्तर, अधिकारियों के निवास स्थान, जेल, न्यायालय, महाविद्यालय, शस्त्रागार, अन्न भंडार, पुस्तकालय, संग्रहालय आदि सब कुछ हैं। दलाई लामा सबसे ऊपर की मंजिल में रहते थे, जो शहर के मकानों से लगभग ४०० फीट ऊँचाई पर है। नवीन वर्ष के आरंभ में एक उत्सव होता था, जिसमें जुलूस बनाकर दलाई लामा को पोताला से नोर्बूलिखा मठ " तक ले जाया जाता था। उस दिन विविध प्रकार के सांस्कृतिक समारोह होते थे। यह मठ भी प्रधान धर्मचार्य के लिए स्थान बदलने एवं मनोरंजन के लिए प्रयुक्त होता था।

एक स्वतंत्र राज्य के रूप में तिब्बत अपना अस्तित्व हजारों वर्षों से बनाए हुए था। उनका अपना शासन था और अपना 'बोन' अथवा 'पान' नामक धर्म। बहुत पुराना इतिहास तो उपलब्ध नहीं, पर ईसा से १२७ वर्ष पूर्व तिब्बती राजा 'न्यां झी चेंपो' ने बिखरे कबीले को संगठित कर एक सुव्यवस्थित शासन दिया, इसका प्रामाणिक विवरण उपलब्ध है। इसके बाद के ४० राजाओं के शासन-काल का घटनाक्रम भी जानकारी की परिधि से आता है। अट्ठाइसवें राजा 'ल्हा-चो-ये-ग्येन' ने अपने संबंध भारत से बनाए और यहाँ से लिपि, भाषा एवं बौद्ध धर्म का आयात किया। तब से वहाँ की सभ्यता में क्रमशः बौद्ध सभ्यता का और विविध विधि प्रगतियों का पथ प्रशस्त होता चला गया।

वर्तमान चौदहवें दलाई लामा के शासन में चीनी कम्यूनिस्ट सरकार ने भारी सेना लेकर आक्रमण कर दिया। सन् १९५६ में उन्होंने थोड़े-थोड़े करके सैनिक अफसर भेजे। नई संधि की वार्ता चलाने के बहाने अपनी स्थिति मजबूत की और अंततः नग्न आक्रमण करके सारे देश पर कब्जा कर लिया। तिब्बत में सेना तो थी पर आंतरिक शासन चलाने के लिए उसे पुलिस स्तर की ही का जा सकता था। आधुनिक शस्त्र-सज्जा से लैस चीनियों का यह मुकाबला नहीं कर सकती थी, अतः उसे आत्म-समर्पण के लिए

विवश होना पड़ा। चौदहवें दलाई लामा अपनी जान बचाकर भारत भाग आए और यहाँ सम्मानित अतिथि के रूप में रह रहे हैं। उनके साथ अन्य अनेक लामाओं और प्रजाजनों को भी भगाकर भारत आ पड़ा, जो अब एक प्रकार से यहाँ बस गए हैं। चीनी आक्रमण के विरुद्ध तिब्बत ने राष्ट्रसंघ, ब्रिटेन, भारत तथा अन्य देशों से मार्मिक अपील की, पर सभी ने बिना स्वार्थ लाभ वाले झंझट से दूर रहने की नीति के अनुसार मौखिक सहानुभूति ही प्रकट की, कोई सक्रिय सहयोग नहीं दिया। ऐसी दशा में बौद्ध तिब्बत को चीनी नास्तिकवाद के निविड़ बंधनों में जकड़ जाने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहा। कम्यूनिस्टों के भयंकर आतंक और उत्पीड़न ने अगणित धार्मिक बौद्धों को मौत के घाट उतार दिया। उनने विद्रोह किया पर वह भी सफल न हो सका। अब तिब्बत एक प्रकार से चीनी मगरमच्छ के पेट में चला गया ही समझा जाना चाहिए।

तिब्बत तो निश्चित रूप से भारत का ही अंश रहा है। उसकी लिपि देव नागरी है। भाषा पर संस्कृत की अमिट छाप है। देवी देवता बिलकुल वही हैं जो भारत के हैं। साधना-उपासना में भारतीय योग विद्या का ही अनुकरण है। दिवाली आदि त्योहार और विवाह आदि संस्कार प्रायः भारतीय रीति-नीति से ही मनाए जाते हैं। वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचलन है, जो एक प्रकार से हिंदू-धर्म का ही अंग है। तिब्बत की शासन व्यवस्था के इतिहास में कौशल राज प्रसेनजित के पुत्र का गौरवपूर्ण उल्लेख है।



नेपाल-संसार का एक मात्र स्वतंत्र हिंदू राष्ट्र

स्कंद पुराण के “हिमिवत खंड” में पूरे ३० अध्याय नेपाल के पौराणिक इतिहास एवं माहात्म्य के संबंध में है। इन्हें ‘स्कंद पुराणांतर्गत नेपाल माहात्म्य’ नाम से अलग पुस्तक के रूप में भी छाप लिया गया है। इस क्षेत्र का थोड़ा-बहुत वर्णन, देव पुराण, वृहन्नल तंत्र, वाराही-तंत्र आदि में भी उपलब्ध होता है।

स्कंदपुराण की आख्यायिका है कि श्रीकृष्ण नेपाल के आराध्य भगवान पशुपतिनाथ का दर्शन करने आए। उनकी हरिहर (विष्णु और शिव का सम्मिलित रूप) मानकर वंदना की। उसी प्रकरण में यह भी कहा गया है कि हरि और हर-विष्णु और शिव में जो प्रथकता मानेंगे वे भेद बुद्धि उत्पन्न करने वाले माने जाएँगे और नरकगामी होंगे।

नेपाल को स्कंदपुराण में ‘श्लेष्मांतक वन’ कहा गया है। श्लेष्मांतक वन अथवा वह अरण्य प्रदेश जिसमें निवास करने पर कफ विकारों का शमन होता हो। एक बार चंद्रमा देवता क्षय रोग से पीड़ित हो गए तो उन्होंने इस प्रदेश में निवास करके उपयोगी जलवायु द्वारा खोए हुए आरोग्य को पुनः प्राप्त किया।

राजा जनक की राजधानी जनकपुर, जिसे मिथिला भी कहा जाता है, नेपाल राज्य के अंतर्गत ही आती है। पुराणों में उपलब्ध वर्णन में उसकी जो भौगोलिक स्थिति बताई गई है उसे देखते हुए इस बात में तनिक भी संदेह नहीं रह जाता कि प्राचीन मिथिला नेपाल के जनकपुर को ही कहा जाता था। अब यह २५ हजार की आबादी वाला छोटा-सा कसबा है। ‘नेपाल, जय नगर, जनकपुर रेलवे’ भी यहाँ तक पहुँचती है। यहाँ कई भव्य मंदिर धर्मशालाएँ

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ३३६

बनी हैं। टीकमगढ़ (मं०प्र०) की रानी वृषभानु कुँवरि ने यहाँ राम जानकी का एक भव्य मंदिर बनवाया है जिसकी लागत ९ लाख रुपए बताई जाती है। इसे नौलखा भी कहते हैं। इसमें राम-सीता की सुवर्णमयी प्रतिमा प्रतिष्ठापित है।

हल जोतते समय जनक को सीता के मिलने का स्थान 'पुनौराधाम' माना जाता है, इसे 'हलेष्ठि' भी कहते हैं। समीप में एक तालाब है, जिसे सीता जन्म कुंड कहते हैं। वहीं पर कुसुमा नामक गाँव के समीप महर्षि याज्ञवल्क्य का आश्रम बतलाया जाता है। गौतम और कपिल के आश्रम भी इसी क्षेत्र में थे। दार्शनिक वाचस्पति मिश्र, जिन्होंने अपनी संतान हीन पत्नी भामती के नाम पर एक टीका ग्रंथ लिखा है, यहीं के थे।

जनकपुर में रामनवमी (चैत्र सुदी नवमी) को विशाल मेला भरता है, जिसमें लाखों दर्शनार्थी उपस्थित होते हैं। वैसाख सुदी नौमी जानकी जी का जन्म-दिवस है। अगहन सुदी पंचमी राम-सीता का विवाह दिन है। इन सभी पर्वों पर यहाँ भव्य मेले लगते हैं और अपार भीड़ एकत्रित होती है। इसमें नेपाली और भारतीय जनता समान उत्साह से भाग लेती है। साधु-संन्यासियों और आगंतुकों को भोजन कराने में कई सौ मन चावल और आटा दानियों द्वारा खर्च किया जाता है। छुटपुट मेले तो प्रायः सभी त्योहारों पर यहाँ लगते रहते हैं। इसी क्षेत्र में मल्हेपुर गाँव के निकट महार्पणित मण्डन मिश्र जन्मे थे। इनकी पत्नी भारती (शारदा) ने आद्य शंकराचार्य के शास्त्रार्थ में छक्के छुड़ाए थे। मोरंग जिले में कोकहा और सप्तकोशी नदियों के संगम पर एक विशाल वाराह मंदिर है। कहा जाता है कि यहीं वाराह-भगवान का अवतार हुआ था।

समस्त नेपाल में सहस्रों भव्य मंदिर सजीव और निर्जीव स्थिति में बिखरे पड़े हैं। इनके नामों और स्थानों की संगति 'स्कंद पुराण' वर्णित विवरणों के साथ पूरी तरह बन जाती है। देवताओं अवतारों और ऋषियों की लीला भूमि, यह क्षेत्र चिरकाल से बना

रहा है और भारत की सीमा में ही इसे माना जाता रहा है, यह तथ्य भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है। भारत के अन्य प्रांत-प्रदेशों से भिन्न इसकी गणना नहीं है। प्राचीन काल में नेपाल भारत भूमि का ही अविच्छिन्न अंग था। अब राजनीतिक परिस्थितियों ने उसे अलग कर दिया यह बात दूसरी है।

नेपाल में बागमती नदी गंगा के समान ही पूजित है। मृतक की भस्म और अस्थियाँ उसमें प्रवाहित की जाती हैं। पशुपतिनाथ की तरह ही गुह्येश्वरी को उस क्षेत्र की अधिष्ठात्री शक्ति माना जाता है। कंठमांडू का 'जय वागीश्वरी मंदिर' प्राचीन एवं पुराण वर्णित है। वागमती के दक्षिण पार्श्व पर बना 'गोकर्णेश्वर मंदिर' बौद्ध मंदिरों की पैगोड़ा शैली पर चार मंजिला बना है। इसमें प्रायः सभी हिंदू देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ भी प्रतिष्ठापित की गई हैं। स्कंदपुराण के अनुसार यहाँ अगस्त्य मुनि ने एक विश्व-यज्ञ संपन्न किया था।

योरोपीय इतिहासकारों का यह व्यंग तथ्यों की कसौटी पर प्रायः खरा उत्तरता है कि नेपाल में जितने घर हैं उतने ही मंदिर हैं और जितनी जनता है उतनी ही देव प्रतिमाएँ हैं। यह इस देश की धर्म श्रद्धा का ही प्रमाण है। हर घर में एक छोटा देव मंदिर उसी प्रकार बना होता है, जिस प्रकार कि रसोई घर। सामूहिक और विशाल मंदिरों की बात इस सार्वजनिक प्रचलन से अलग है।

भारत के नेपाल प्रदेश का नामकरण उसकी नैतिक विशेषता एवं धर्मनिष्ठा के आधार पर हुआ है, कहा गया है-'नीति तंपालयति इति नेपाल' अर्थात् 'जहाँ नीति का पालन होता है, वह है नेपाल।' नेपाल के राष्ट्रध्वज पर चंद्र और सूर्य अंकित हैं। सूर्य को गर्भी और चंद्रमा को शीतलता का प्रतीक माना जाता है। इन्हें क्रांति और शांति का, ब्राह्मण और क्षत्रिय का, शस्त्र और शास्त्र का, संघर्ष और सृजन का प्रतीक भी कह सकते हैं। समन्वय की आवश्यकता और उपयोगिता का प्रतिपादन नेपाली राष्ट्रध्वज में

अंकित सूर्य-चंद्र के चिन्हों से होता है। उसमें नेपाल की नीति का स्पष्टीकरण है।

नेपाल में जन्मे अनेक महामानवों का कर्मक्षेत्र समस्त भारत रहा है। भगवान् बुद्ध लुम्बिनी में जन्मे। सीताजी का जन्म जनकपुर में हुआ। महर्षि वाल्मीकि का जन्म नेपाल में भैंसालोटन में, व्यास का जुमला में, विश्वामित्र का पाँच पोखरी में, याज्ञवल्क्य का कृष्णा कौशिकी में, भारद्वाज और शृंगी ऋषि का गंडकी मंडल में, मनु का बझांग में कार्यक्षेत्र रहा है। उनके आश्रम और स्मृति अवशेष इन स्थानों पर मिले हैं। इसी प्रकार काम सूत्र के प्रणेता वात्सायन का स्थान गलकोट में, भृगुसंहिता के रचयिता भृगुमुनि का निवास भृगुकोट में और महर्षि कपिल का आश्रम कपिलातीर्थ में बताया जाता है। संभव है वे जन्मे भी वहीं हों। साधना और कार्यक्षेत्र उनका उस प्रदेश में होने की बात के पक्ष में तो वजनदार प्रमाण उपलब्ध हैं।

हिमालय की सबसे ऊँची छोटी नेपाल में है। संसार में सबसे ऊँचा पर्वत शिखर 'एकरेस्ट' जिसे नेपाली भाषा में 'सगर माया' कहते हैं, यहीं है। इसके अतिरिक्त कंचन जंघा २८१४९ फीट, लोन्से २७८९० फीट, धौलागिरि २६७९५ फीट, अन्नापूर्णा २६४९३ फीट, गोसाई थान २६२९१ फीट गौरीशंकर २३४३५ फीट हिमाचल २५८०२ फीट इसी प्रदेश में है। इससे थोड़ी कम ऊँचाई की चोटियों से तो नेपाल का हिमालय क्षेत्र भरा पड़ा है।

'अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास' ग्रन्थ के लेखक श्रीसत्यकेतु विद्यालंकार के मतानुसार उस जाति के राजा अग्रसेन के एक पूर्वज नेमिनाथ ने इस देश को बसाया और उसका नामकरण उन्होंने अपने नाम पर किया था।

बुद्ध का जन्म ईसा के ५४४ वर्ष पूर्व लुम्बिनी नामक स्थान में हुआ। यह स्थान कपिलवस्तु नामक नेपाली नगर से १५ मील दूर है। अशोक ने उस पवित्र जन्म स्थान में स्मृति स्तूप बनाया। अशोक

की पुत्री चारूमती का एक नेपाली साम्रंत से विवाह हुआ था। इस घटना क्रम को देखते हुए वहाँ भगवान् बुद्ध के उपदेशों और क्रियाकलापों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। वहाँ जनता में बुद्ध धर्म फैला और कितने ही स्तूप और मठ बने, जिनमें से कितने अभी विद्यमान हैं और कितने ही खंडहर बने हुए हैं।

यों भारतीय बौद्ध भिक्षु आरंभ से ही नेपाल में उस धर्म के प्रसार में निरत थे, पर चौथी शताब्दी में आचार्य 'वसुबंधु' के नेतृत्व में नए उत्साह के साथ नए प्रयास हुए। सातवीं शताब्दी में वहाँ के राजा 'अंशु वर्मन' ने अतीव दूरदर्शिता और निष्ठा का परिचय देते हुए बौद्ध धर्म की जड़ें गहरी और दूर-दूर तक जमाने के लिए ठोस प्रयास किए। उसने अपनी विदुषी और निष्ठावान् पुत्री 'भ्रकुटी' का विवाह तत्कालीन तिब्बत नरेश के साथ इसलिए किया कि उस देश और नरेश को बौद्ध बना लिया जाए। यह दाव सोलहों आने सही सिद्ध हुआ और इस विवाह ने उस देश को सचमुच ही बौद्ध बनाने का द्वार खोल दिया। नेपाली पंडित शीलमंजु तिब्बत गए। नेपाल के मठों में बैठकर तिब्बत के लिए बौद्ध ग्रंथ लिखे गए और वहाँ पहुँचाए गए। 'शांति रक्षित' जैसे उद्भट विद्वानों को तिब्बत पहुँचाने में नेपाल का पूरा सहयोग और उत्साह मिलता रहा। उन दिनों भारत में मुसलमानों के निर्मम आक्रमण हो रहे थे और धार्मिक लोग जान बचाकर भाग रहे थे, उन्हें नेपाल में आश्रय मिला।

नेपाल में बौद्ध धर्म भी हिंदू धर्म का अंग बन कर ही फैला। उसकी कोई प्रतिद्वंदिता नहीं थी वरन् उसे वेद धर्म का एक सुधारवादी संप्रदाय ही माना जाता था। अस्तु, बिना किसी अड़चन के उसे नेपाल में जनता तथा शासकों का सहयोग प्राप्त होता रहा। वहाँ भी मठ, विहार बनते रहे और भिक्षुओं द्वारा धर्म-प्रचार होता रहा।

सप्तांशोक की पुत्री 'चारूमती' का विवाह नेपाल राजवंश के एक सुयोग्य सदस्य देवपाल के साथ इस आशा से कर दिया गया कि उस देश में बौद्ध धर्म के प्रसार में सहायता मिलेगी। हुआ भी ऐसा ही।

उस दंपत्ति ने देवपाटन नामक विहार बनवाया। विधवा होने पर चारुमती भिक्षुणी बन गई और उसने धर्म-चक्र प्रवर्तन में अपना शेष सारा जीवन और समस्त धन समर्पित कर दिया।

बुद्ध-जीवन से संबंधित परम पवित्र चार स्थान माने जाते हैं (१) लुम्बिनी (नेपाल) तथागत का जन्मस्थान (२) संबोधि स्थल-बोधि गया (३) धर्म-चक्र प्रवर्तन-सारनाथ (४) अवसान-कुशीनगर। इनमें से प्रथम पवित्र स्थान लुम्बिनी नेपाल में है। उसका दर्शन एवं नमन करने के लिए संसार भर के बौद्ध आते रहते हैं। सम्राट अशोक स्वयं उस परम पुनीत स्थान का दर्शन करने गए थे। वहाँ उन्होंने एक विशालकाय मंदिर बनवाया, जिसके ध्वंशावशेष आज भी वहाँ मौजूद हैं। उस पर अंकित शिलालेख का भावार्थ यह है—यहाँ सम्राट अशोक पधारे। उन्होंने बुद्ध-जन्म की इस पवित्र भूमि का पूजन किया और स्तूप बनवाया। इस राज्य पर से समस्त राजकीय कर उठा लिए गए।

अब लुम्बिनी में नेपाल सरकार ने एक भव्य बौद्ध-मंदिर बनवाया है, जिसका उद्घाटन करने वर्मा के तत्कालीन प्रधानमंत्री 'यू नू' वहाँ पहुँचे थे। इसमें एक भव्य प्रतिमा भगवान बुद्ध की बालकपन की भी प्रतिष्ठापित की गई है, जो वर्मा में बनी है और जिसे संसार भर के बौद्ध बालक-बालिकाओं द्वारा संग्रहीत धन से बनाया गया है। इस देवालय में भगवान बुद्ध की जो विशालकाय मूर्ति है, वह भी वर्मा की ही बनी है।

पं० मुरलीधर भट्टारि कृत 'नेपाल और उसकी संस्कृति' पुस्तक के अनुसार आद्य शंकराचार्य उस देश में संव्याप्त बौद्ध धर्म को निरस्त करने गए थे। इसकी पुष्टि 'श्रीमज्जगद्गुरु शंकर मठ विमर्श' ग्रंथ से होती है। पशुपतिनाथ मंदिर के निकट 'शंकराचार्य मठ' वहाँ अभी भी वर्तमान है।

बागमती नदी के बाँएं टट पर 'महा बौद्ध नाथ' का उतुंग स्तूप है। इस पर चढ़ने के लिए सीढ़ियों भी हैं। उसके शीर्ष पर दो

समस्त विष्णु को भारत के अपने अनुदान / ३४१

विशाल नेत्र बने हैं, मानो ईश्वर अपने नेत्रों से आगंतुकों के पाप-पुण्य को परख रहा हो। आँखों के बीच नाक का चिन्ह भी बना है। स्तूप का विशाल प्रांगण है, जो चार द्वारों वाली चहारदीवारी से घिरा है। स्तूप के १३ चौकोर वर्ग हैं, जो क्रमशः एक के बाद दूसरे से छोटे होते चले गए हैं। यह बौद्ध धर्म की मान्यता के अनुसार १३ स्वर्गों या १३ वर्गों के प्रतीक हैं। उनका शीर्ष भाग पीतल और ताँबे से बना और सोने से मढ़ा हुआ है, जो स्वर्ण-शिखर जैसा चमकता है। यहाँ भारतीय, नेपाली, तिब्बती और वर्मा बौद्ध भक्तिभावना सहित दर्शन करने के लिए हर साल बड़ी संख्या में आते हैं। हिंदू-गृहस्थों की श्रद्धा भी इस धर्म स्थानके लिए कम नहीं है।

संसार भर में सबसे बड़ा बौद्ध चैत्य नेपाल का 'बोधनाथ' है। यह काठमांडू में पशुपति नाथ मंदिर से एक मील उत्तर की ओर है। तिब्बत, सिक्किम, भूटान, चीन, वर्मा, स्याम आदि से हजारों यात्री यहाँ दर्शन के लिए आते हैं। मंदिर का अध्यक्ष तिब्बत के दलाईलामा का प्रतिनिधि होता है, उसे चिकाई लामा कहते हैं। ललितपुर का महाविहार लगभग ८०० वर्ष पुराना है। श्रावणमास में बौद्ध महिलाएँ उपवास करती हैं और इस मंदिर में दर्शन करने के लिए आती हैं। महाबौद्ध मंदिर पंडित अभ्यराज ने बनवाया है। उसमें २३०० ईंटें ऐसी लगती हैं, जिन पर बुद्ध के जीवन की घटनाएँ अंकित हैं।

काठमांडू से एक मील आगे पच्छिम में एक हरी-भरी पहाड़ी पर बौद्धों का प्रख्यात तीर्थ 'स्वयंभूनाथ' है। स्तूप का व्यास ६० फीट और ऊँचाई ३० फीट है। उस पर नासिका सहित दोनों नेत्र महाबौद्धनाथ जैसे ही हैं। उसकी ऊपरी रचना मंदिराकार है। भगवान बुद्ध की प्रतिमा देखते ही बनती है। उसके विशाल प्रांगण में गणेश, कार्तिकेय, शिव, विष्णु, सूर्य और सरस्वती तथा अन्य देवताओं की अनेक प्रतिमाएँ हैं। मंदिर के चारों ओर ढोल जैसी घिरनियाँ लगी हैं और उन पर 'मणि पद्मे हुम' मंत्र खुदा है। तिब्बती बौद्ध इसी का

जप करते हैं। इस क्षेत्र में विहार और चैत्य भी दर्शकों के लिए समूचित आकर्षण के केंद्र हैं।

पाटन के दरबार प्रांगण में खड़े होकर ऊपर नजर उठाते ही गगनचुंबी देवालयों और बौद्ध पेगाड़ाओं की विशाल पंक्ति खड़ी दीख पड़ती है। सभी बहुत कलापूर्ण हैं। इन्हें देखने पर उन दिनों की स्थिति सामने आ खड़ी होती है, जब इस देश में धार्मिक उत्साह उमड़ा था और लोग बड़े अरमानों के साथ ऐसे धर्म स्थानों की संस्थापना भारी श्रम व्यय और मनोयोग के साथ करते थे।

इतिहासकार के०पी० जायसवाल के अनुसार नेपाल में ही उस विशिष्ट वास्तु-कला का आविष्कार किया गया, जो पीछे चीन, वर्मा, हिंद, चीन आदि देशों में गई और बौद्ध-शैली कहलाई। पेगोडा स्तर के जो देव मंदिर मध्य एशिया और दक्षिण पूर्वी एशिया में बिखरे पड़े हैं, उस स्थापत्य कला का मूल स्रोत अब नेपाल में स्वीकार किया जा रहा है।

नेपाल की एक अति महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी धर्म-समन्वय नीति है। हिंदुओं के वैष्णव, शैव, शाकत मत वहाँ परस्पर सहयोग और सहिष्णुता पूर्वक पनपे और फले-फूले हैं। जहाँ अन्यत्र धार्मिक मान्यताओं की भिन्नता को लेकर मनोमालिन्य या असहयोग का वातावरण बना, वहाँ नेपाल में समन्वय की नीति अपनाकर विचार भिन्नता को विभिन्न आकार-प्रकार के फूलों से सजे गुलदस्ते की तरह सुशोभित किया है। उस देश में एक ही देवालय में विभिन्न मतावलंबियों की देव प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित हैं और अपने-विराने का भेदभाव किए बिना धर्म श्रद्धा वाले लोग उन्हें समान आदर के साथ पूजते हैं। बौद्ध धर्म और हिंदू धर्म का भी ऐसा ही समन्वय यहाँ हुआ है। कितने ही देवालय ऐसे हैं जिन्हें बौद्ध या हिंदू किसी भी मत का या दोनों ही मतों का कहा जा सकता है।

काठमांडू से ७ मील उत्तर में शिवपुरी पहाड़ी के निकट एक चौकोर तालाब में जलशायी बूढ़ा नीलकंठ की खुली हुई विशालकाय

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ३४३

प्रतिमा है। वह वस्तुतः विष्णु की है पर कुछ लोग उसे नीलकंठ महादेव की बतला देते हैं। इससे स्पष्ट है कि उस देश में शैव, शाक्त, वैष्णव और बौद्ध अपने-अपने समय में अपने-अपने विकास को प्राप्त होते रहे हैं। किसी का किसी के साथ संघर्ष नहीं हुआ वरन् समन्वयवादी दृष्टिकोण ने विभिन्न मतालंबियों को आगे बढ़ने का अवसर प्रदान किया था। इतना ही नहीं वहाँ देवी-देवताओं की ऐसी प्रतिमाएँ और कलाकृतियाँ मिलती हैं जिनको हिंदू अथवा बौद्ध दोनों ही सिद्ध किया जा सकता है।

स्वयंभूनाथ का मंदिर ५०० फीट ऊँची पहाड़ी पर बना है। उस तक पहुँचने को ४०० सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं। मंदिर की ऊँचाई १०० फीट है। यह पेगोडा की शैली पर बना है और मीलों की दूरी से दिखाई देता है। इसे बौद्ध और शैव दोनों ही सम्मान रूप से अपना उपासना केंद्र मानते हैं। उसे लगभग दो हजार वर्ष पुराना माना जाता है।

नपत पोला का प्राचीन मंदिर समस्त नेपाल धाटी में सबसे ऊँचा मंदिर है और पेगोडा शैली पर पाँच मंजिल का बना है। चांगु नारायण का मंदिर १६०० वर्ष पुराना है जिसे राजा हरिदत्त वर्मा ने बनवाया था। उसमें विष्णु और बुद्ध दोनों की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित हैं। भक्तपुर नगर का निर्माण चक्राकार हुआ है। हिंदू उसे विष्णु के सुदर्शन चक्र का प्रतीक मानते हैं और बौद्ध धर्म-चक्र प्रवर्तन का।

ठाठ० रघुनाथ सिंह ने अपनी पुस्तक 'जाग्रत नेपाल' में पशुपतिनाथ प्रतिमा के चार मुख और सिर पर राजमुकुट की ऐसी विचित्रता बतलाई है जैसी शिव प्रतिमाओं के इतिहास में अन्यत्र कहीं भी देखने में नहीं आती। शिवजी के पाँच मुख माने जाते हैं, चार मुख तो ब्रह्म के होते हैं। इस पहेली का रहस्योधाटन करते हुए उन्होंने इस प्रतिमा में शिव विष्णु के साथ-साथ बौद्ध धर्म का भी समन्वय बताया है। चूँकि भगवान बुद्ध राजकुमार थे इसलिए उनके सिर पर

मुकुट होना कुछ आश्चर्य की बात नहीं। चार मुखों को उन्होंने बुद्ध के जीवन की चार महान घटनाओं की प्रतीक माना है—(१) जन्म (२) तप (३) धर्म-चक्र प्रवर्तन (४) अवसान। इस प्रकार की संगति चार मुखों और राजमुकुट की बिठाई जाए तो उसे युक्ति-संगत ही कहा जाएगा। जिन दिनों यह प्रतिमा बनी है उन दिनों नेपाल में अपने पूर्ववर्ती शैव और वैष्णव धर्मों की तरह बौद्ध धर्म की जड़ भी गहरी जम चुकी थी। समन्वयवादी नेपाली धर्माचार्यों को त्रिदेव समन्वय की बात सूझी और उसमें बुद्ध को भी सम्मिलित कर लिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

पाटन नगर के हिरण्यकशु मंदिर के साथ भगवान बुद्ध का तिमंजिला मंदिर है। बोधगया वाले मंदिर की नकल पर बना, महाबुद्ध का यह विशाल मंदिर देखते ही बनता है। उसकी दीवारों पर तथागत की प्रमुख घटनाएँ बड़ी सुंदरता के साथ खोदी गई हैं। यहाँ सन् १४०८ का बना महा प्रसिद्ध मछीन्द्रनाथ का मंदिर है, जिसे उनके शिष्य गोरखनाथ ने बनवाया था। उसे हिंदू और बौद्ध दोनों ही समान रूप से पूजते हैं और उसके इतिहास पर अपना-अपना रंग चढ़ाते हैं।

नेपाल के अनेक मंदिरों में हरिजन ही पुजारी हैं। कहीं-कहीं ब्राह्मण और हरिजन दोनों ही समान रूप से पूजा संपन्न करते हैं। भद्रकाली सिद्ध पीठ के पुजारियों में एक चांडाल भी अनिवार्य रूप से सम्मिलित रहता है। देश भर के मंदिरों में बिना किसी भेदभाव के छूत-अछूत समान रूप से दर्शन करते हैं। केवल पशुपतिनाथ के मंदिर में इतना प्रतिबंध है कि वे नांदी तक ही जाएँ और वहाँ ज्योतिलग के दर्शन कर लें। शिव के बारह ज्योतिलंगों में से नेपाल का पशुपतिनाथ भी है। इसकी एक विचित्रता यह है कि प्रातःकाल प्रतिमा पर ठंडा जल डाला जाए तो उसके शीर्ष भाग से भाप निकलने लगेगी। इस संबंध में वहाँ कितनी ही अलौकिक किंबदंतियाँ प्रचलित हैं। मंदिर के कोष भंडार में एक मुखी रुद्राक्ष, सर्पमणि,

गजमुक्ता, दक्षिणवर्ती शंख जैसी दुर्लभ वस्तुएँ संग्रहित हैं। भावुक भक्त इन्हें सिद्धिदायिनी और मंगलकारिणी मानते हैं। इस शिवलिंग का उत्तर मुख अर्ध नारी और अर्ध नर का सम्मिश्रण है। इसे शाक्त धर्म और शैव धर्म का समन्वय भी कह सकते हैं, यह प्रतिपादन उभय-लिंगी मुखाकृति से परिलक्षित होता है।

समस्त संसार में एकमात्र स्वतंत्र हिंदू राष्ट्र नेपाल की लंबाई ५०० मील और चौड़ाई ८० से १२० मील तक है। क्षेत्रफल ५४००० वर्ग मील है। आबादी एक करोड़ के लगभग। समस्त नेपाल में मिलाकर कुल ६० मील लंबा रेल मार्ग है। मोटर मार्ग से ही एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाना होता है। फिर भी यहाँ सड़कें अच्छी नहीं हैं। काठमांडू से वीरगंज केवल १२८ मील है, पर इतनी दूरी मोटरें दस घंटे में पार करती है। किराया भी १८ रुपया लगता है। जब कि यही यात्रा हवाई जहाज से २० मिनट में पूरी हो जाती है और किराया भी ३० रुपए देना पड़ता है। इसलिए हवाई यात्रा वहाँ अधिक प्रचलित है। छोटे-छोटे हवाई जहाज उड़ते रहते हैं। काठमांडू, पोखर, भैरहवा, नेपालगंज, जनकपुर, राजविराज, डाँग, सिमरा, विराट नगर बड़े हवाई अड्डे हैं। छोटी पट्टियाँ तो कई जगह हैं। काठमांडू से तिराहा तक एक रज्जू मार्ग भी है।

सन् १३३४ में मुहम्मद तुगलक ने नेपाल पर हमला किया। उसके बहनोई मलिक खुसरू के नेतृत्व में एक बड़ी घुड़सवार सेना चीन के रास्ते भेजी गई और उस देश को बुरी तरह ध्वस्त कर दिया। १३४९ में एक आक्रमण बंगाल के शमसुदीन ने भी किया। इन आक्रमणकारियों ने लूट-खसोट, तोड़-फोड़ और विनाश तो बहुत किया पर वे अधिक समय तक वहाँ पैर न जमा सके। तब वहाँ वैश्य जाति के ठकुरिया वंश का शासन चलता था। वह लड़खड़ा रहा था। उधर भारत में भी मुसलमान आक्रमण का पूरा जोर था। इस स्थिति में अयोध्या के सूर्य वंशी राजा हरिसिंह देव नेपाल पहुँचे और उन्होंने वहाँ के शासन की बागड़ोर

सँभाल ली। इसके बाद वहाँ क्षत्रिय वंश की शासन परंपरा चल पड़ी।

नेपाल के ८५ प्रतिशत लोगों की आजीविका कृषि है। वहाँ गो-वध का निषेध है। वहाँ की भाषा 'गोरखवाली' है जो देव नागरी लिपि में लिखी जाती है और हिन्दी की ही एक शाखा मानी जाती है। इस देश के अधिकांश निवासी अपने को गोरखा कहते हैं। गोरखा 'गोरक्षक' का अपभ्रंश हैं। गुरु गोरखनाथ के अनुयायी होने के कारण भी उन्हें गोरखा कहा जाता है। कुमारी रहने वाली एक जीवित कन्या को देवता मान कर पूजने की नेपाल में एक विचित्र पद्धति है। इस लड़की का पूजन स्वयं नेपाल नरेश भी करते हैं।



भूटान प्रांत-जो अब भारत का संरक्षित प्रदेश भर है

भूटान को पुराणों में महर्षि कश्यप की एक पत्नी भूति की संतानों द्वारा बसाया गया 'भद्र देश' कहा गया है। भूटानी लोग उसे उन 'वज्र दानवों' का देश मानते हैं, जो 'कण-पर्वत' तथा 'चोमो ल्हारी' चोटियों पर विचरण करते थे। नेपाली वंश के लोग यहाँ बहुत हैं। उनका मूल भूटानियों के साथ सम्मिश्रण भी हुआ है। यातायात की दुर्गमता के कारण यह क्षेत्र भी तिब्बत की तरह एक प्रकार का निषिद्ध क्षेत्र ही रहा है। प्राचीन काल में यह क्षेत्र भारत की परिधि में तो आता था, पर पीछे यातायात की कठिनाई के कारण आवागमन घट गया तो यह अलग-थलग पड़ गया।

सन् १८९७ में भूटान में एक भारी भूकंप आया था। उन दिनों राजधानी पुनाखा थी। भूकंप में अग्निकांड हुआ और उसमें वह बहुमूल्य पुस्तकालय जल कर नष्ट हो गया जिसमें उस देश के इतिहास पर प्रकाश डालने वाले महत्वपूर्ण कागजात सुरक्षित थे। उपलब्ध अधूरे विवरणों से यह पता चलता है कि सातवीं सदी में वहाँ संगलदीप राजा का शासन था। आठवीं सदी का विवरण यह है कि नालंदा विश्व विद्यालय के आचार्य पद्म संभव भूटान पहुँचे थे और उन्होंने उस देश को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था। राजा नवुदारा को भी उन्होंने बौद्ध बनाया। उसके बाद वहाँ कितने ही विहार और मंदिर बनते चले गए। तिब्बत से भी बौद्ध प्रचारक वहाँ आते रहे। इसी बीच तिब्बती डाकुओं की लूटपाट की घटनाएँ भी बढ़ने लगीं, जिनसे निपटने

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ३४८

में भूटान नरेश शाब्दुंग को कूच विहार और नेपाल के राजाओं की सहायता से सफलता प्राप्त हुई।

भूटान के प्राचीन राजभवन एक प्रकार के किले हैं, जो ऊँची प्राचीरों से घिरे हैं। उन्हीं के भीतर बौद्ध पुरोहित, सरकारी अधिकारियों और आवश्यक कर्मचारियों के निवास गृह बने हुए हैं। 'पारो जोड़'- 'पुनाखा जोड़'- 'तासी ढो तोड़' आदि ऐसे ही राजमहलों के नाम हैं। ऐसे पाँच दुर्ग समयानुसार बदलती रहने वाली राजधानियों के प्रतीक हैं। अब वे शासकीय कार्यालय हैं। इनमें एक से दूसरे में जाने के राजमार्ग भी बने हैं।

भूटान के निवासी प्रधानतया बौद्ध धर्मविलंबी हैं, पर दक्षिण भूटान में सनातनी हिंदू धर्म फैला है। 'ओम मणि पद्मे हूम्' मंत्र का प्रचलन है। तिब्बतियों की तरह हाथ से चर्खी घुमाकर माला जपने का प्रयोजन पूरा किया जाता है। प्रार्थना चक्र के ढोल भी मंदिरों में स्थापित हैं। उन्हें घुमाने से जप की अपेक्षा हजारों गुना अधिक पुण्य माना जाता है। यों शासन राजा के हाथ में रहता है, धर्मगुरु लामा लोग भी कम प्रभावशाली नहीं हैं। इन लामाओं से टकराने में प्रधानमंत्री जिम्मी होरजी को अपनी जान ही गँवानी पड़ी थी। यहाँ भिक्षु विहार और भिक्षुणी विहार अलग-अलग होते हैं। भिक्षुणियाँ अपना सौंदर्य छिपाने के लिए घास को मेंहदी की तरह पीसकर चेहरे पर लेप किए रहती हैं। भूत-ग्रेत की मान्यता, तंत्र-मंत्र और पशुबलि के विधान का वहाँ पूरा जोर है। बुद्ध धर्म के अहिंसा सिद्धांत को वहाँ के लोग देव प्रयोजन पर होने वाली पशु बलि पर लागू नहीं करते। भयंकर मुखोटे पहन कर नाचना वहाँ की परंपरागत लोक-नृत्य शैली है।

भूटान की जनसंख्या का सही लेखा-जोखा तो नहीं है, पर अनुमान से वह साढ़े आठ लाख है। १८ हजार वर्गमील भूमि में वह फैला हुआ है। कहीं जन विहीन वन्य प्रदेश बहुत लंबे फैले हुए हैं, कहीं घनी आबादी है, कहीं वर्षा की अधिकता है, कहीं ठंड, कहीं

गर्मी अधिक रहती है। ऐसी ही अनेक विचित्रताओं से भरा हुआ यह देश है। पूर्वी भूटान में कम ही लोग रहते हैं। हिंस्त्र पशुओं से सुरक्षा के लिए लोग घरों के आस-पास ऊँची बाढ़ें खड़ी करते हैं। भूटानियों के अतिरिक्त वहाँ सिक्किम, नेपाल तथा तिब्बत से आकर भी बहुत लोग बस गए हैं और वे वर्ही के निवासी हो गए हैं। फिर भी आकृति-प्रकृति के आधार पर उन्हें आसानी से वर्गीकृत किया जा सकता है। पोशाक वहाँ तिब्बतियों जैसी ही पहनी जाती है।

‘ल्होई ढो जुंग’ नामक ग्रन्थ ही भूटान का एक मात्र प्रकाशित इतिहास है, जो ३०१ पृष्ठ का है। दस वर्ष पूर्व तक राज्य परिवार के और धर्म पुरोहितों को छोड़कर सामान्य नागरिक वहाँ पढ़े-लिखे बिलकुल न थे। अब वहाँ स्कूल खुल रहे हैं। रेडियो स्टेशन भी नहीं है। भारत का कुर्सियांग केंद्र सप्ताह में तीन दिन एक-एक घंटे का भूटानी भाषा में कार्यक्रम प्रस्तुत करता है। एक सरकारी प्रेस है और उसी का एक पाक्षिक पत्र निकलता है। तिब्बत की तरह यहाँ भी बहुपति तथा बहुपत्नी प्रथा है। गरीब परिवारों में सब मिलकर एक पत्नी से काम चलाते हैं। इसके विपरीत अमीर लोग कई स्त्रियाँ रखते हैं। इसका कारण उतना सामाजिक या धार्मिक नहीं जितना कि आर्थिक है।

भूटान में केवल अठन्नी का एक सिक्का चलता है जो मिंट धातु का है। नोट या अन्य सिक्कों का प्रचलन नहीं है। उस देश में राजतंत्र चलता है। एक परिवार के एक वोट के आधार पर शासन-समिति के कुछ सदस्य चुने भी जाते हैं, शेष राजा द्वारा नामजद होते हैं।

भूटान की राजधानी थिप्पू है। वहाँ भारत से हेलीकोप्टर की यात्रा ही सरल पड़ती है। सिक्किम तथा चुंबी घाटी के रास्ते जाने का अच्छा मार्ग है। बंगाल दुआरे से भी जाया जा सकता है। यह मार्ग पैदल या घोड़े का है। मार्गों में कीचड़ या दल-दल बहुत हैं। यात्रियों के पैरों में जोंकें चिपट जाती हैं और बहुत कष्ट देती हैं।

अब वहाँ कई अच्छी सड़कें बनी हैं और भारत के साथ यातायात सरल हो गया है। पड़ोसी देशों का आर्थिक प्रभाव भूटान पर पड़ता रहा है, इससे वहाँ शाकत शैव तथा बौद्ध धर्मानुयायी सभी हैं। कूच विहार मार्ग से हिंदू प्रचारक तथा व्यवसायी पिछले समय वहाँ जाते रहे हैं।

भूटान की पुरानी राजधानी 'पुनाखा' रही है। यहाँ का किला राजभवन भी है और बौद्ध विहार भी। यहाँ से केलिंगपोंग को एक अच्छा रास्ता 'फाटी जोड़' होकर जाता है। नेपाल का वर्चस्व पिछले दिनों अधिक रहा है, इसलिए उस क्षेत्र में नेपाली भाषा अच्छी तरह बोली और समझी जाती है।

अंग्रेजी सरकार के दो पादरी सन् १७२७ में टोह लेने भूटान गए और तिब्बत तक पहुँचे। आवश्यक विवरण प्राप्त हो जाने पर ईस्ट इंडिया कंपनी ने सर्वे कराया। इसके बाद १७७३ में एक अंग्रेजी सैन्यदल उस देश पर चढ़ दौड़ा, जिसका परिणाम एक संधि के रूप में सामने आया। अंग्रेजी व्यापार भूटान के साथ अच्छी तरह चलने लगा। इसके बाद फिर दोनों पक्षों में विग्रह बढ़ा। उसका परिणाम सन् १८८६ में फिर एक संधि हुई जिसमें ब्रिटिश भारतीय सरकार ने भूटान को ५० हजार रुपया प्रति वर्ष उपहार देना स्वीकार किया और भूटान ने अंग्रेजों की सुविधा की अन्य शर्तें मानी।

भारत सन् १९४७ में स्वतंत्र हुआ, १८ अगस्त १९४९ को भारत और भूटान के बीच अंग्रेजी संधि के स्थान पर नई संधि हुई। भारत ने भूटान को पाँच लाख रुपया वार्षिक सहायता देना स्वीकार किया, साथ ही उसके अंग्रेजों द्वारा कब्जे में किए गए भूभाग को लौटा दिया। भारत का उस देश के अंदरूनी मामलों में दखल नहीं है, पर वैदेशिक मामलों में उसे भारत से सलाह करके ही चलना होगा। इस प्रकार वह एक संरक्षित राज ही रहेगा।

अंग्रेजी शासन-काल में भी भूटान और भारत के अच्छे संबंध थे। अब सन् १९५६ से वे और भी मधुर एवं दृढ़ होते चले जा रहे

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ३५१

हैं। सन् १९५८ में पं० नेहरू स्वयं वहाँ गए और सन् १९५९ में भारत-भूटान सड़क बननी आरंभ हुई। इस कार्य में भारत की १२ करोड़ की सहायता ही प्रमुख रही। १७४ किलोमीटर का यह मार्ग उत्तरी बंगाल की सीमा से लेकर वर्तमान राजधानी थिप्पू तक जाने का प्रशस्त राजमार्ग है। इसका उद्घाटन करने सन् १९६८ में इंदिरा गांधी गई थीं। अब और भी कई बड़ी-बड़ी सड़कें बनाई जा रही हैं। जीपें और बसें इन पर दौड़ने लगी हैं। हाँसीमारा से पारो और थिप्पू तक हेलीकोप्टर एवं वायुयान भी चलने लगा है। अब साठ दिन में पूरा होने वाला कठिन मार्ग इन साधनों से कुछ ही घंटों में पूरा हो जाता है।



सिक्खिकम अभी भी भारत से जुड़ा है

सिक्खिकम को बौद्ध धर्म में दीक्षित करने का श्रेय नालंदा विश्व विद्यालय के आचार्य 'पद्म संभव' को है। उन्होंने नेपाल, भूटान, सिक्खिकम और तिब्बत के सारे क्षेत्र को अपनी प्रखर प्रतिभा से प्रभावित करके बौद्धधर्मानुयायी बनाया था। पीछे भारत के अन्य धर्मानुयायी पहुँचते रहे। इसके उपरांत तिब्बत के मठों से लामा लोग वहाँ पहुँचे और सिक्खिकम में बौद्ध धर्म की स्थिति को सुदृढ़ बनाते रहे। उनका वर्चस्व क्रमशः बढ़ता गया और स्थिति यहाँ तक बदली कि शासन सत्ता भी उन्हीं के इशारों पर संभाली और बदली जाने लगी। इन शक्तिशाली लामाओं में 'ल्हात्सुन देम्बो', 'नदक पा' 'करतेक पा', के नाम अग्रणी रहे हैं। इन्हीं के प्रयत्न से 'टशोडिंग'-‘प्रेमयांग चे’ और ‘साँगा छोलिंग’ के विशाल मठों का निर्माण हुआ है। सिक्खिकम में इस समय ६७ विहार हैं, इनमें सात-आठ अधिक समुन्नत स्थिति में हैं।

बड़े विहारों में भगवान बुद्ध की प्रतिमा स्थापित रहती है और उसके सामने १०८ अखंड दीप जलते रहते हैं। 'नामग्याल इंस्टीट्यूट ऑफ टिबेटोलॉजी' नामक एक संस्था देउराली नामक नगर में कुछ ही समय पूर्व बनी है। उसमें २२००० पांडुलिपि सुरक्षित हैं तथा १२००० अन्य ग्रंथ हैं। उस क्षेत्र में फैले हुए बुद्ध संप्रदाय का अध्ययन करने की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण स्थान है। ७० रेशमी चित्रपट तथा २०० प्राचीन प्रतिमाएँ भी यहाँ संग्रहीत हैं। सिक्खिकम के वर्तमान शासक चोग्याल भारत की 'महा बोधि सभा' के बहुत समय तक अध्यक्ष भी रहे हैं।

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ३५३

सिक्किम में बहुसंख्यक नेपाली मूल के लोग हैं, जो हिंदू धर्मानुयायी हैं। वहाँ बौद्ध और हिंदू धर्म में अंतर नहीं किया जाता। हिंदुओं के मंदिर भी बहुत हैं और उनमें बुद्ध लोग भी श्रद्धापूर्वक पूजा अर्चा करते हैं।

सिक्किम का भूतकालीन इतिहास सुनिश्चित नहीं है। फिर भी यही मान्यता अधिक ग्राह्य है कि भारत के हिमाचल प्रदेश के राजा इंद्र बोधि ने वहाँ जाकर शासन स्थापित किया था और उनकी संतानें क्रमशः राज्याधिकारी होती चली आईं। मध्यकाल में समीपवर्ती देशों के साथ कलह-संघर्ष भी चलते रहे। फलस्वरूप सिक्किम को अपनी बहुत-सी भूमि खोनी पड़ी। सन् १८१४ में अंग्रेजों ने भी इस देश पर अधिकार जमाया। पीछे एक संधि के अंतर्गत परस्पर समझौता हो गया। १० मार्च १८९० की संधि के अनुसार सिक्किम ब्रिटिश भारत सरकार का संरक्षित देश बन गया। भारत के स्वतंत्र होने के बाद सिक्किम और भारत की नई संशोधित संधि सन् १९५० में हुई, जिसमें सिक्किम का दर्जा संरक्षित प्रदेश का रहेगा। भारत सरकार ने विकास कार्यों के लिए एक बड़ी धनराशि भी दी। अब शासन में कितने ही सुधार हो रहे हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात पर समुचित ध्यान दिया जा रहा है।

सिक्किम की राजधानी गंगटोक है। यही उस प्रदेश का एक मात्र शहर है। रेलें वहाँ नहीं हैं, पर सड़कें हैं, जिन पर 'सिक्किम नेशनल ट्रांसपोर्ट' की बसें चलती हैं। जलवायु स्वास्थ्य कर है। व्यापार पर मारवाड़ी लोगों का आधिपत्य है। गंगटोक 'छुक्लाखांग गुंबा' नामक स्थान, देव मंदिर, राजमहल, संग्रहालय, ऐसेम्बली भवन सभी कुछ हैं। मंदिर में अखंड धृत दीप प्रज्ज्वलित रहता है। हवन की धूप भी बिना बुझे जलती रहती है। हिरनों के लिए एक अभय वन सुरक्षित है। एक तिहाई आबादी गंगटोक के घेरे में और दो-तिहाई देहातों में बसी है। पिछले बीस वर्षों में यहाँ तरह-तरह की आश्चर्यजनक उन्नति हुई हैं।

सिक्किम में तीन जातियाँ रहती हैं। लेपचा अर्थात् मूल निवासी, नेपाली और भोटिया, जो तिब्बत नसल के हैं। लेपचा लोगों की आबादी पाँच प्रतिशत रह गई है। इस देश में बौद्ध धर्म विशेष रूप से प्रचलित है। हिंदुओं की संख्या उनसे कम है। नेपाली जाति के लोग वहाँ ७५ प्रतिशत हैं। इस समय सिक्किम की आबादी १६२१८७ है। राजधानी गंगटोक की आबादी १० वर्ष पहले १२ हजार थी, पर अब वह बढ़कर ८० हजार हो गई है। यहाँ पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ कम हैं।

सिक्किम बहुत छोटा देश है। उसकी लंबाई ७० मील और चौड़ाई ४० मील है, क्षेत्रफल २८१८ वर्गमील है। नेपाल और सिक्किम की सीमा सिंगलीला पर्वत श्रेणी पर बनती है। चारों ओर से पर्वत-प्राचीरों से घिरे इस देश का बाहरी संबंध चार बड़े दर्दों में होकर होता है। निरंतर तीव्र गति से बहने वाली दो नदियाँ हैं—तिस्ता और रंगीत। लोक कथा है कि तिस्ता प्रेमिका है और रंगीत प्रेमी। ये जीवन में एक न हो सके तो नदी-नद बनकर चिरंतन प्रेमालाप करते हैं। दोनों का जहाँ संगम होता है, वहाँ हर साल मकर संक्रांति का मेला होता है और उसमें सम्मिलित होने वाले इस नदी-नद जैसे प्रेमालाप की कामना करते हैं।

बहुत वर्षा, कुहरा, बिजली की कड़क इस देश की ऐसी विशेषताएँ हैं जिसमें भूमि सहज ही बहुत उपजाऊ बनती है। सघन वनस्पतियों की बहुलता के कारण इसे हिमालय का उद्यान कहते हैं। यहाँ इतने अधिक प्रकार की लता, गुल्म, पुष्प एवं जड़ी-बूटियाँ पाई जाती हैं कि उन्हें खोजने और बीज-पौध ले जाने के लिए देश-देशांतरों के वनस्पति शास्त्री यहाँ आते रहते हैं। अब तक ४००० हजार से अधिक प्रकार के बहुमूल्य गुल्म, पादप यहाँ खोजे गए हैं। वन्य क्षेत्रों में कितनी ही नस्ल के जानवर रहते हैं। भूरा भालू, जंगली विलाब, धारीदार चीता, काष्ठ मार्जार, छोटा बाघ, कस्तूरी हिरन, जंगली भेड़ और बकरी इस क्षेत्र की पशु संपदा है।

कुछ पशु पक्षी ऐसे हैं जो इसी क्षेत्र में पाए जाते हैं। गुलाबी पैर का कौआ तिब्बत और सिक्किम में ही होता है। पक्षियों, तितलियों, कीड़ों की इतनी अधिक किस्में यहाँ हैं जितनी संसार में अन्यत्र मिलनी दुलभ है। ताँबे की खाने यहाँ बहुत दिन से खोदी जा रही हैं। अब लोहे की खाने भी खोद निकाली गई हैं।

भूटान की तरह सिक्किम का राजधर्म भी बौद्ध है। धर्मग्रंथ प्राचीन तिब्बती भाषा में हैं। नेपाली लोगों ने एक युवा पुस्तकालय स्थापित किया है। नेपाली भाषा में एक त्रैमासिक पत्रिका 'नव ज्योति' प्रकाशित होती है। गंगटोक से भारत सरकार का सूचना विभाग नेपाली भाषा में 'प्रगति' नामक त्रैमासिक तथा 'हिमालय संदेश' नामक पाद्धिक निकालता है। सिक्किम सरकार नेपाली में कंचन जंघा पत्रिका छापती है। अब वहाँ की सरकार अंग्रेजी में भी एक छोटा सा चार पेज का पत्र 'सिक्किम हेरल्ड' भी छापने लगी है।

सिक्किम में उस देश के अन्य क्षेत्रों की तरह बहु-पति और बहु-पत्नी प्रथा प्रचलित है। परित्यक्ताओं, विधवाओं और कुमारियों की संतानें वहाँ अवैध नहीं भानी जातीं। पुनर्विवाह करने पर वह नए पति की, और न करने पर पति की संतानें कही जाती हैं। इसलिए वहाँ अवैध संतानें नहीं के बराबर हैं, जो हैं उनके लिए कोई सामाजिक असम्मान नहीं है।



बर्मा भी हमसे अलग हो गया

पुरातत्व वेत्ताओं ने एक स्मारक में एक घड़ा खोद निकाला है, जिसमें दाह-कर्म के उपरांत बची हुई भस्म रखी हुई है। इस पर राजा विक्रम का नाम लिखा है। इससे वर्मा में तत्कालीन भारतवंशी राजा का होना विदित होता है, जो वहाँ शासन करते थे। चीनी इतिहासकारों के अनुसार सन् ८४९ में १९ ग्रामों के प्रमुख 'पिनका' सरदार का उल्लेख है जो बौद्ध धर्मानुयायी था। भारत के दक्षिणात्य लोगों ने वहाँ पहुँचकर नाग-पूजा भी प्रचलित कराई थी। बर्मा का क्रमबद्ध इतिहास यारहवीं सदी से आरंभ होता है, जिसमें कहा गया है कि राजा अनाव्रत वहाँ का शासक था, उसे वैशाली की राज-कन्या पंचकल्याणी विवाही थी।

वर्मा के कितने ही नगर भारतीय संस्कृति का उस क्षेत्र में होना सिद्ध करते हैं। पेगू का विष्णुनगर अब तक 'विश्वनमो' है। उसी प्रकार कुछ समय तक रामपुरा नाम से पुकार जाने वाला नगर अब मौलंगीन हो गया है। रामाबती का पुराना कस्बा अब नया नाम बदल कर दर्वाची बन गया है।

बर्मी इतिहासकार बताते हैं कि ११वीं शताब्दी में 'शीन अर्हा' नामक ब्राह्मण भारत से उत्तर वर्मा में आया और उसने बौद्ध धर्म फैलाया। तब पागान में सैंकड़ों बुद्ध विहार बने। इन्हें बनाने वाले कुशल कारीगर भारत से आए थे। इस क्षेत्र में एक विशाल विष्णु मंदिर अभी भी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पड़ा है। भीतरी दीवारों पर विष्णु के दशों अवतारों की प्रतिमाएँ अंकित हैं। पागान पर सन् १०८४ से १११२ तक 'क्यांजीटा' राजा का शासन रहा, वह अपने को श्रीराम का वंशज बताता था। याजदी पैगोड़ा में लगे हुए शिलालेख

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ३५७

से वर्तमान पागान का पुराना नाम-'अरिदमनपुर' और वहाँ के राजा का यज्ञकुमार विदित होता है। यह उल्लेख पाली, तेलंग, प्यू और बर्मा भाषा में है। ग्यारहवीं सदी में वैशाली की राजकन्या पंचकल्याणी के पुत्र का शासनारूढ़ होना एक ऐतिहासिक तथ्य है।

बर्मा के सांस्कृतिक विकास-क्रम की अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित पुस्तकें पढ़नी चाहिए। (१) चार्लस डुरोई सेल्ले कृत-'ए लिस्ट ऑफ इंसक्रिप्शंस फाउंड इन बर्मा' (२) येमांग कृत-'इंसक्रिप्शंस इन बर्मा' (३) नीहार रंजन कृत 'ब्राह्मणीकला गाइस इन बर्मा' (४) 'संस्कृत बुद्धिज्ञ इन बर्मा' (५) 'एपीग्राफिया बर्मानिका' (६) 'एपीग्राफिया इंडिका'। बर्मा में सबसे पुराने शिलालेख पाँचवीं सदी के प्राप्त हुए हैं, जो कदंब भाषा में हैं। यह दोनों ही दक्षिण भारत की भाषाएँ थीं। इतिहास के अन्य सूत्रों से भी यही सिद्ध होता है कि ईसा की पहली शताब्दी में उड़ीसा तथा तेलंगाना के लोगों ने व्यावसायिक प्रयोजनों से बर्मा जाना आरंभ किया था और वे समुद्र के दक्षिणी तटवर्ती प्रदेश में बस गए थे। पेगू क्षेत्र उन्हीं से भरा पड़ा था। मौलमीन के निकटवर्ती क्षेत्र में अभी चार लाख 'तेलंग' नस्ल के लोग रहते हैं। इतिहास वेत्ता जी०ई० हर्वे ने लिखा है कि बर्मा में जितनी भी लोककथाएँ प्रचलित हैं, वे प्रायः सभी भारत से गई हैं। थारोन, प्रोम, पेगू, रंगून आदि क्षेत्रों में भारतीयों की बस्तियाँ थीं। भारत से बौद्ध धर्म वहाँ पहुँचा। इस उत्साह में प्राचीन हिन्दू मंदिरों का परिवर्तन बौद्ध मंदिरों में कर दिया गया। रंगून का 'श्वेडगो' पैगोडा विख्यात है, पर वहाँ के बौद्ध राजाओं ने कई पीढ़ियों तक उसका निर्माण जारी रखा था। आसुंभ में वह २७ फीट ऊँचा था। पर सन् १३६२ से बढ़ते-बढ़ते सन् १७७४ तक ३२६ फीट ऊँचा हो गया। इसकी गोलाई १४२० फीट है, चारों ओर छोटे-छोटे ६४ पैगोडा और भी बने हैं। विशाल मंदिर में दो बड़े-बड़े घंटे टंगे हैं। इनमें से एक १४० टन और दूसरा १६ टन का है।

रंगून नगर के मध्य में सुले पैगोड़ा है। माँडले के पास मिंगुन पैगोड़ा में १२ फीट ऊँचा, १० फीट चौड़ा, १०० टन वजन का क्लूँसे का घंटा है। संसार का यह सबसे बड़ा घंटा माना जाता है। 'कवाआमे' का 'विश्वशांति पैगोड़ा' ११८ फीट ऊँचा और इतना ही चौड़ा है।

इसके समीप ही एक बौद्ध विश्व विद्यालय है। वर्मा के गणनीय बौद्ध मंदिरों में श्वेतीगो थातवन्यु, गोदी पालिन, महाबोधि, शैतनदी आदि पैगोड़ा अपने-अपने ढंग के अनोखे हैं। आक्रमणकारी विधर्मियों ने जितने बौद्ध मंदिर तोड़े और प्रतिमाएँ नष्ट कीं उन सबका लेखाजोखा प्रस्तुत किया जाए तो यह देश भी भारत की तरह धार्मिक ध्वंशावशेष की कथा कहते सुना जाएगा।

वर्मा का 'श्वेडांगन' पैगोड़ा (स्वर्ण मंदिर) अब से दो हजार वर्ष पूर्व एक ऊँची पहाड़ी पर बना बौद्ध मंदिर है। इसमें भगवान बुद्ध के कुछ अवशेष सुरक्षित हैं। मंदिर का शिखर ३२५ फीट ऊँचा है। शिखर तथा अन्य स्थानों में करोड़ों रूपए का सोना लगा है। धूप में इसकी स्वर्ण आभा बहुत ही नयनाभिराम लगती है। इसके खंभों के नीचे चाँदी की मोटी सिल्लियाँ आधार शिला के रूप में रखी गई हैं। मंदिर का आंगन इतना बड़ा है जिसमें हजारों व्यक्ति बैठ सकते हैं। पूजा के लिए नर-नारियों की भीड़ सदा ही यहाँ लगी रहती है। इसमें अब भी बड़ी संख्या में बौद्ध भिक्षु रहते हैं। इस मंदिर की शोभा का वर्णन करते हुए यात्रा लेखक 'नार्मन लेविस' ने लिखा है कि जब वे प्रतिमा के सम्मुख पहुँचे तो भावविभोर हो गए और देर तक अविरल अश्रुधारा बहती रही। उस देवालय में लगी स्वर्ण संपदा को देखकर उन्होंने पूरे वर्मा देश का नाम ही 'स्वर्णदेश' लिखा है।

सप्तांशोक के समय में श्रीसोन और उत्तर नामक दो भिक्षु भगवान बुद्ध के बाल लेकर उस देश में गए थे और तब यह विज्ञालकाय 'श्वेडांगन' का मंदिर बना था। बौद्धों द्वारा प्रचारित

'भैस्थविर वाद' दर्शन अभी भी 'थीरावाडा' के अपश्रंश रूप में उन्हीं मान्यताओं के साथ वर्मा देश में लोकप्रिय है।

बर्मा में हिंदू देवी-देवताओं और रीति-रिवाजों का अनुकरण होता है। वर्मा, थाईलैंड, कंबोडिया-इन तीनों ही देशों में होली मनाई जाती है और उसे जलोत्सव कहा जाता है। भारतीय गणेशोत्सव की तरह गणेश पूजा वहाँ भी उत्साहपूर्ण समारोह से की जाती है- उसका नाम है 'महा पैइने'।

दक्षिण बर्मा के थारोन क्षेत्र में बौद्ध धर्म का अभी भी विस्तार है और उस पर ब्राह्मण धर्म की छाप है। सन् १७६७ में वर्मा के शासक 'हसीब बुसीन' ने स्याम देश को जीता तो वहाँ से रामलीला के कुशल कलाकार अपने साथ लाया। तब स्याम के दरबारी भी रामलीला खेलते थे। राजघराने के कई प्रतिष्ठित सदस्य भी उस अभिनय में भाग लेते थे। इन लोगों ने वर्मा आकर वहाँ बड़े उत्साह से रामलीला का प्रचार किया। इस प्रकार हारा हुआ स्याम अपनी कला का आधिपत्य वर्मा पर जमाने में सफल हो गया।

कवीश्वर 'उतो' की लिखी 'रामयज्ञ' नामक रामायण वर्मा में बहुत लोकप्रिय है। याग्या नाटकों के अधिकांश विवरण इसी ग्रंथ के आधार पर बने हैं। यह नाट्य मंचन प्रायः दो सप्ताह लगातार चलता है और रातभर दिखाया जाता है। दर्शकों की भारी भीड़ उसे देखने जमा हो जाती है।

बर्मा की आबादी ढाई करोड़ है। उसे तिब्बत, भारत, चीन, थाईलैंड की सीमाएँ छूती हैं। बंगाल की खाड़ी में उसका समुद्र, तट १२०० मील लंबा है। भारत में यह क्षेत्र 'ब्रह्मदेश' कहा जाता था और भारत का अविच्छिन्न अंग माना जाता था। यहाँ के निवासी 'वर्मन' अथवा 'वर्मा' कहे जाते थे। भारत में भी इस उपाधि को धारण करने वाले बहुत लोग हैं। बर्मा के भारतीयों की वंश परंपरा इन लोगों के साथ मिल जाती है।

बर्मा भाषा में पाली और संस्कृत शब्दों की भरमार है। व्याकरण भी इसी आधार पर बना है।

पूरे बर्मा में अधिकांश बौद्ध धर्मानुयायी रहते हैं। त्रिपिटक साहित्य पाली एवं वर्मा भाषा में है। ८३ ऐसे बौद्ध विहार हैं जिनमें धार्मिक शिक्षा और डिग्री दी जाती है। शांति पैगाहः त उत्त्वत् धार्मिक शिक्षा का विश्व विद्यालय ही है। प्रायः प्रत्यक गाँव में छोटा-बड़ा बुद्ध मंदिर अवश्य होता है। जहाँ प्रत्येक बालक को धर्म दीक्षा का संस्कार कराना पड़ता है। यहाँ समय-समय धर्मानुष्ठान एवं समारोह होते रहते हैं, जिनमें जनता उत्साहपूर्वक भाग लेती है। पर्व-त्योहार भी वहाँ भारत की तरह बहुत होते हैं।

बर्मा में महिलाओं का दर्जा पुरुषों से ऊँचा है। बहुत से वंशों में महिलाओं बाहर का काम करती हैं और पुरुष बच्चों का पालन तथा घर का काम संभालते हैं। आमतौर से घर की संपत्ति पर पत्नी का अधिकार होता है। उसके मरने पर बेटे नहीं बेटों की बहुएँ मालकिन होती हैं पर अब यह पुराना प्रचलन घट रहा है और संपत्ति का स्वामित्व पुरुषों के हाथ जा रहा है।

बर्मा में जाति प्रथा नहीं है। वहाँ विवाह सरल है। एक ही गाँव में शादी होती रहती है। उसमें लड़के-लड़की की पसंदगी को प्रार्थनिकता मिलती है। उच्च कक्षाओं में यद्धन वाल लड़के-भी खुशी-खुशी शादी कर लेते हैं। सर्वाधियों का जलपान ऊँट-द्वारा प्रतिज्ञा संस्कार, इतने में ही विवाह संस्कार पूरा हो जाता है। तलाक की भी सरलता है पर आमतौर से उस अधिकार का प्रयोग कभी ही कोई अत्यंत विवशता की स्थिति में करता है। कमर में नीचे लुंगी और धड़ पर अंगरखा यही वर्मा के नर-नारियों की एक जैसी पोशाक है। सिर पर पुरुष रूमाल बाँधते हैं और स्त्रियाँ लंबी चोटी रखती हैं, पैरों में दोनों चप्पलें पहनते हैं।

बर्मा में सरकारी प्रमाण-पत्र प्राप्त ही चिकित्सा कर सकते हैं। अन्नादृ चिकित्सक इलाज करता पकड़ा जाए तो उसे आजीवन

कारावास तक का दंड मिल सकता है। शिक्षा प्राप्त चिकित्सों को पहले दो वर्ष अनिवार्य रूप से देहाती चिकित्सालयों में जाना पड़ता है। यहाँ देशी चिकित्सा पद्धति है, जिसमें जड़ी-बूटियों की खोज एवं उपयोग पर बहुत जोर दिया जाता है। मध्य बर्मा में कोड़ का प्रकोप अधिक है। चिकित्सा की तरह अनाथ संरक्षण भी सरकार द्वारा होता है। निजी अनाथालय वहाँ नहीं खोलने दिए जाते। वृद्ध, अपंगों के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व सरकार पर रहता है।

बर्मा के विकास में पिछले दिनों भारतीयों ने अथक परिश्रम किया है। भारतीय धन, श्रम तथा कौशल ने उस देश की समृद्धि बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है, पर अब वे वहाँ दयनीय स्थिति में हैं। अधिकांश भारतीय बर्मा छोड़ चुके हैं। जो अभी रहते हैं वे भी छोड़ने की तैयारी कर रहे हैं। परिस्थितियों ने उन्हें इसके लिए विवश कर दिया है। अनुमानतः अब भी बर्मा में एक लाख भारतीय मूल के लोग रहते हैं। सन् १९५१ की जनगणना-में भारतीय मूल के लोगों की संख्या १० लाख थी और चीनियों की एक लाख। अब चीनी बढ़कर १० लाख हो गए हैं और भारतीय एक लाख रह गए हैं। इस वृद्धि और हास के पीछे जहाँ बर्मा सरकार का पक्षपात है वहाँ भारत मूल के लोगों में उन तत्त्वों की कमी भी एक कारण है, जिनके आधार पर घर और बाहर सहयोग सम्मान पाया जाता है।

मध्यकाल में बर्मा का स्थानीय शासन रहा। अंग्रेजों ने उसे अपने कब्जे में किया और भारत के साथ मिलाया। सन् १९३५ तक बर्मा भारत का अंग था। उस समय वहाँ भी अंग्रेजी शासन था। सन् १९३७ में उसे भारत से अलग कर दिया गया।

बर्मा में कभी भारतीय बहुत बड़ी संख्या में थे, पर पिछले दिनों से उस देश की सरकार ने भारतीयों को निर्ममतापूर्वक खदेड़ने की नीति अपनाई है, जिससे उनकी स्थिति दयनीय हो गई है और संख्या काफी घट गई है। फिर भी वे अपने धार्मिक अस्तित्व को

मजबूती के साथ बनाए हुए हैं। बर्मा के समीपवर्ती देशों में भी भारतीय काफी हैं, पर उन देशों की सरकारों ने वैसे कड़े प्रतिबंध लगाए हैं और वे वहाँ शांतिपूर्वक रहते हुए फल-फूल रहे हैं। ऐसे देशों में मलेशिया, सिंगापुर, वियतमान, लाओस, कंबोडिया और थाईलैंड का नाम लिया जा सकता है। थाईलैंड के भारतीयों की स्थिति अच्छी है। सिंगापुर जैसे छोटे देश में वे लगभग दो लाख हैं।

२ वर्मा में सरकारी मान्यता प्राप्त हिंदुओं का एक मात्र संस्थान 'हिंदू सेंट्रल बोर्ड' है। हिंदू मंदिरों की रक्षा प्रायः उसी के द्वारा विगत २० वर्षों से हो रही है। सरकार भी उसे २५ हजार कार्यिक अनुदान देती है। उस देश में प्रायः दो दर्जन आर्य समाजें हैं, जिनमें हिंदी पाठशालाएँ और पुस्तकालय चलते हैं। उसकी ओर से एक 'जागृति' नामक मासिक पत्रिका भी निकलती है। 'सनातन धर्म स्वयं सेवक संघ' की प्रायः ८० शाखाएँ हैं जिनमें छोटे-छोटे मंदिर हैं तथा हिंदी शिक्षण एवं धार्मिक समारोह होते रहते हैं। पारिवारिक सत्संग एवं कीर्तन मंडलियाँ भी इस संघ की तरफ से चलती हैं।

५



८

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ३६३

लंका और भारत की एकता

पुराणों में रावण की स्वर्ण विनिर्मित लंका का विस्तारपूर्वक वर्णन आता है। वाल्मीकि और तुलसी कृत रामायण में सीताहरण और राम-रावण युद्ध की चर्चा करते हुए बहुत कुछ लिखा गया है। रावण का कैलाश पर्वत पर जाकर तप करना, सीता स्वयंवर में यहुँचना लिखा है। मध्य भारत के दंडकारण्य क्षेत्र तक उसका राज्य फैला था। खरदूषण उसके राज्यपाल थे। रावण की बहिन सूर्पनखाँ वहाँ की साम्राज्ञी थी। इन वर्णनों से विदित होता है कि पौराणिक काल में लंका बृहत्तर भारत का एक प्रदेश माना जाता था। अंग्रेजी शासन काल में भी लंका और भारत एक थे। बिखराव की आँधी ने लंका को भी भारत के अंचल से छुड़ाकर अलग-थलग पटक दिया। तो भी सांस्कृतिक दृष्टि से वह देश अभी भी एक प्रकार से भारत ही है।

श्रीलंका के इतिहास में इस तथ्य का स्पष्ट वर्णन है कि ईसासे छः सौ वर्ष पूर्व उत्तर भारत से पहुँचे भारतीयों ने इस द्वीप को बसाया था और उसका नाम सिंहल द्वीप रखा था। वहाँ के 'वंश' नामक इतिहास ग्रंथ में इस घटनाक्रम का वर्णन है, जिसके अनुसार भारतीय वहाँ जाकर बसे और कृषि, व्यवसाय और शासन व्यवस्था की नींव रखी। तब से लंका में पिछले दिनों तक के राजतंत्र चलाने वाले-विद्वान, धर्मगुरु तथा व्यवसायी भारतीय वंशधर ही रहे हैं। दक्षिणी भारत तट से लंका समीप पड़ने के कारण पीछे वहाँ के लोगों का आवागमन अधिक रहा और वे ही बहुसंख्या में वहाँ बसते रहे।

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ३६४

बौद्ध धर्म के प्रवेश के पूर्व लंका में हिंदू-धर्म का प्रचलन था। सातवीं सदी में देयुंदर में वहाँ विष्णु मंदिर विनिर्मित हुआ था। नागों और यक्षों का भी उन दिनों प्रचलन था। अनुराधापुर के आस-पास अनेकों हिंदू मंदिरों के अवशेष मिले हैं। त्रिकोणमल्लै, मानतै एवं मुन्नेश्वरम् के शिव मंदिर किसी समय बहुत समुन्नत स्थिति में थे।

दक्षिण भारत के अंतिम छोर से ५० मील दूर लंका द्वीप है। किसी समय वह भारत का ही अविच्छिन्न अंग था। प्रकृति के परिवर्तन ने एक जल की पट्टी बीच में बहा दी और वह भूगोल की दृष्टि से अलग हो गया। रामेश्वरम् से लेकर लंका तक का समुद्र बहुत उथला है। उसमें रेतीली प्राचीर और प्रवाल पर्वत माला बिखरी पड़ी है। इस उथली जलमण भूमि को 'सेतुबंध' की संज्ञा दी जाती है। संभव है जब पानी ने कटाव आरंभ किया हो तब उस पर बाँध बाँधने का कोई प्रयत्न किया गया हो और नल-नील इंजीनियरों ने उसके निर्माण की भूमिका निबाही हो।

लंका की अधिकतम लंबाई २७० मील, चौड़ाई १३७ मील और क्षेत्रफल २५३३२ वर्ग मील अर्थात् भारत का साठवाँ भाग है। आबादी एक करोड़ से भी कम है। इनमें बौद्ध ६१ प्रतिशत, हिंदू २१ प्रतिशत, मुसलमान ८ प्रतिशत और ईसाई दश प्रतिशत हैं। जातियों की दृष्टि से इन्हें योरोपीय डच, यूरेशियन, सिंहली, तामिल, मूर मुसलमान, मलाई और वेदा (आदि वासी) कह सकते हैं। सिंहली ६७ प्रतिशत, तामिल २४, मूर मुसलमान ७ प्रतिशत हैं शेष में अन्य सभी जातियाँ शामिल हैं। भारत की तरह यहाँ भी आदिवासियों की बड़ी संख्या जंगलों में लंगोटी पहिने शिकार पर गुजारा करती है। इन लोगों को हँसना नहीं आता।

यहाँ के पर्वतों के शिखर ८ हजार फीट तक ऊँचे हैं। सबसे बड़ी नदी महाबली गंगा है जो २०६ मील बहती है। इस देश का बहुत बड़ा क्षेत्र घने जंगलों से घिरा है। उष्णकटिबंध होने से यहाँ

स्वभावतः गर्मी अधिक पड़ती है, पर चारों तरफ समुद्र होने से तापमान उतना अधिक नहीं होने पाता। यहाँ लगभग ७० प्रतिशत व्यक्ति सिंहली बोलने वाले और २० प्रतिशत तमिल वाले हैं। राज्य भाषा सिंहली है, वैकल्पिक मान्यता तमिल को भी मिली हुई है। तमिल भाषाओं में आधे तो लंका निवासी ही हैं। आधे भारतीय मूल के लोग हैं। भारतीय क्रमशः एक सौ वर्षों से वहाँ जाकर बसते रहे हैं।

इसके पूर्व छठी शताब्दी में श्रीलंका का इतिहास उपलब्ध है। उसे भारतीय राजकुमार विजय ने विघ्निवत बसाया। इसके बारे में किंवदंति है कि उसका बाबा सिंह की संतान था। सिंह की संतान होने के कारण उस देश का प्राचीन नाम 'सिंहल' पड़ा और वहाँ के निवासी सिंहली कहलाए। वन्य पशु सिंह से मनुष्य की उत्पत्ति की लोक-गाथा में इतना ही तथ्य हो सकता है कि उन्हें सिंह गोत्रीय क्षत्रियों के वंशज माना जाए। सम्राट अशोक की प्रेरणा से तत्कालीन लंका के राजा ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। अशोक का पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघ मित्रा दोनों ही उस देश में बौद्ध धर्म का प्रचार करने गए थे और वहीं वे अंतिम समय तक बने रहे। सन् १५ में यहाँ की राजधानी अनुराधापुर थी और शासन तमिल भाषी हिंदू राजा करते थे।

अशोक के चतुर्थ शिलालेख में धर्म विजय अभियान के ताप्रपर्णी (लंका) में सफलतापूर्वक प्रवेश का उल्लेख है। अशोक का पुत्र स्वयं प्रचारक बन कर उस देश में गया था। इससे १४५ वर्ष पूर्व लंका का शासक 'देवानाम् प्रियतिष्ठ' था। उसने इस धर्म विजय में भरपूर सहायता की। तिष्ठ ने महा अरिष्ट के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि मंडल पाटलिपुत्र सम्राट अशोक के साथ धर्म चर्चा करने को भेजा। अशोक ने इस प्रतिनिधि मंडल का समुचित स्वागत किया और उसे बहुमूल्य उपहारों के साथ लौटाया। साथ ही एक पत्र भी लिखा कि "मैं बुद्ध की-धर्म की-संघ की शरण में

आ गया हूँ। ऐ मनुष्यों के शासक। तुम भी इन तीनों रत्नों को ग्रहण करके अपने को धन्य बनाओ।”

तदुपरांत अशोक पुत्र महेन्द्र अपने साथ इष्टिय, शंबल, उक्तिय, भद्रशाल तथा भंडु जैसे विशिष्ट प्रचारकों के साथ लंका गया और उनके प्रयत्न से राजा तिष्य ने ४० हजार प्रजाजनों के साथ बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की। उसी अवसर पर राजधानी अनुराधापुर में एक विशाल चैत्य की स्थापना हुई। उसका नाम महाविहार रखा गया। अब उसे ‘दागोवा’ कहते हैं। महेन्द्र के उपदेशों से राज परिवार की महिलाएँ बहुत प्रभावित हुईं और उन्होंने अशोक की पुत्री संघमित्रा से दीक्षा ग्रहण की। फिर तो महिला समाज में बुद्ध धर्म फैलने लगा गया। संघमित्रा महेन्द्र के बाद ही भारत से बोधि-वृक्ष की शाखा लेकर लंका पहुँची थी। इस शाखा को वहाँ बड़ी धूम-धाम से लगाया गया। संसार का सबसे पुराना, यह ऐतिहासिक वृक्ष अनुराधापुर में ‘जय महाबोधि’ के नाम से अवस्थित है। उसका दर्शन करने बौद्ध देशों से हजारों यात्री प्रति वर्ष पहुँचते रहते हैं।

संघमित्रा का एक अलग उपासिका विहार बना। राजकुमारी अतुला सहित ५०० भिक्षुणियाँ उसमें निवास करने लगीं और उस देश में धर्म-विजय के लिए अनवरत प्रयत्न करने लगीं।

बीस वर्ष की आयु में राजकुमार महेन्द्र ने ईसा से २५९ वर्ष पूर्व संन्यास ले लिया था। आचारी मोगलि पुत्री तिष्य मोगलि ने अशोक के संघ को पुत्र दान देकर अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत करने की प्रेरणा दी थी। अशोक ने केवल अपना ज्येष्ठ पुत्र वरन् उसकी बहिन संघमित्रा को भी धर्म-विजय अभियान के लिए दान कर दिया। लंका में जो बौद्ध प्रभाव पड़ा उसका श्रेय अशोक के इस संतान दान को दिया जाए तो कुछ अत्युक्ति न होगी। महेन्द्र ने ईसा से २५२ वर्ष पूर्व अर्थात् संन्यास लेने के सात वर्ष उपरांत एक अंतर्राष्ट्रीय विशाल बौद्धधर्म सम्मेलन बुलाया, जिसे तृतीय संगीत कहा जाता है। उस योजना के अनुसार लंका न केवल स्वयं बौद्ध

धर्म का सुदृढ़ गढ़ बना, वरन उसने वर्मा, कंबोडिया, स्याम, लाओस आदि सुदूर पूर्व के देशों और क्षेत्रों में धर्म-विजय के लिए उत्साहपूर्ण पूर्वक प्रयास किया।

संघमित्रा और महेन्द्र के अवसान के उपरांत कुछ समय ऐसा भी रहा है जब लंका में राज्य क्रांतियाँ होती रही और उनके भले-बुरे प्रभाव धर्म-विजय अभियान पर भी पड़ते रहे। सुवर्ण पिंड, तिष्यसेन, गुत्तिक, एलार, दुष्ट ग्रामणी आदि के शासन आए गए। उनमें से कई बौद्ध धर्म के प्रति उदार भी रहे। एलार ने १५ लाख स्वर्ण मुद्राएँ देकर एक स्तूप का पुनरुद्धार कराया। दुष्ट ग्रामणी ने विशालकाय 'रत्नमाल्य स्तूप' बनवाया और दक्षिण गिरि लंकन, कुलन्याल, विलंग, बीथि दुर्बल, वापितिष्य, दूर तिष्य, कवापि, अभयगिरि, दीर्घ वापि आदि अनेक विहार बनवाए तथा तत्कालीन प्राचीन विहारों को बहुमूल्य सुविधा साधन प्रदान किए। इसके उपरांत राजा महासेन द्वारा मणिहार, गोकर्ण, इककाबिल और कलंद विहारों का निर्माण कराया गया। उसने एक नहर खुदवाई और सोलह सरोवर बनवाए। इसके उपरांत राजा मेघवर्ण ने लोह प्रासाद का पुनरुद्धार किया। धर्म प्रचारक महेन्द्र की स्वर्ण मूर्ति बनाकर स्थानिक मंदिर में स्थापित कराई। उसने भारत से भगवान बुद्ध के अवशेष, नगर, तथा लकड़ियाँ ले दी और उन्हें लेकर कलिंग के अज़कुम्हर ले दिया। उस अवशेष का भारी स्वागत हुआ। उसे काटिष्ठ में नालौगाँव मंदिर बनाकर स्थापित किया गया। मेघ वर्ण ने अठारह विहार बनाए। उन दिनों महापंडित बुद्ध घोष के नेतृत्व में प्रजा के मन पर बौद्ध धर्म की गहरी छाप पड़ी और प्रबुद्ध लंका वासियों ने उत्साह पूर्वक उसमें प्रवेश किया। उसने 'अट्ठासालिनी' 'ज्ञानोदय' 'विसुद्धि मग' नामक महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की और अपने साथी केवल की सहायता से 'त्रिपिटक' का लंका की भाषा में अनुवाद किया। इस लेखन प्रयोजन के लिए एक ग्रंथकार विहार अलग से ही बनाया गया। 'अट्ठ कथाओं' का अनुवाद इसी

केंद्र से किया गया। ग्यारहवीं शताब्दी में विजयबाहु और बारहवीं शताब्दी में पराक्रमबाहु ने बौद्ध धर्म में आई विकृतियों का निराकरण करने के लिए कई महत्वपूर्ण सुधार प्रयत्न किए।

‘रत्नमाल्य’ के दक्षिण पश्चिम में अभयवापी (वस्त्रवक्तुलम्) के निकट ‘मिरिस बट्टी’ स्थूप है। समीप ही ‘तिष्यवार्षी’ है। ‘ईसुर मुनिय’ से थोड़ी दूर बेस्सगिरि की पहाड़ी पर बहुत-सा गुफाएँ हैं, उनमें ब्राह्मी लिपि के लेख खुदे हैं। इस क्षेत्र में संघारामों के अनेक ध्वंसावशेष बिखरे पड़े हैं। अनुराधापुर के समीपवर्ती क्षेत्र में ‘जेतवनाराम’ का महास्तूप दर्शनीय है। ‘कुडापोकुन’ के पक्के कुंड भिक्षुओं के स्नान के लिए बनाए गए थे। फाहियान के अनुसार अभयगिरि के महाविहार में तीन हजार भिक्षु रहते थे, मलबत्त विहार में अभी भी ३०० भिक्षु रहते हैं।

बौद्धधर्म के लंका में कितने ही दर्शनीय स्थान हैं। कोलंबो से आठ मील दूर ‘कल्याणी विहार’ सन् २०३ में विनिर्मित हुआ था, उसे राजा ‘देवनाम प्रिय तिष्य’ ने बनवाया था। समंतकूट के ‘बुद्धपाद’ में भगवान बुद्ध के चरण की स्थापना है। इसाई और मुसलमान इसे हजरत आदम के चरण बताते हैं। उनके अनुसार आदम ने सबसे पहले पृथ्वी पर इसी जगह पैर रखा था। अनुराधापुर का विहार सबसे बड़ा है। वह आध मील के घेरे में है। राजकुमार मङ्गल यहां ज्येष्ठ की पूर्णिमा को पहुँचे थे। उस दिन यहाँ उनका स्तूप भै मेला लगता है, जिसमें लाखों धर्म प्रेमी सम्मिलित होते हैं। नल के अतिरिक्त घरों में भी उस दिन त्योहार मनाया जाता है। लंका का दूसरा पर्व है—भगवान बुद्ध का जन्म-दिवस-वैसाख पूर्णिमा। इस दिन प्रायः सभी बौद्ध देवालयों और घरों में उत्सव होता है। कांडि (सैखंड) के विहार में भगवान बुद्ध का पवित्र दाँत स्थापित है। इसके दर्शन आषाढ़ी पूर्णिमा को होते हैं। स्वर्ण पात्र में रखकर उसे हाथी की पवित्र सवारी पर जुलूस के रूप में घुमाया जाता है, ताकि धर्म प्रेमी उसके दर्शन कर सकें। इस दाँत की सुरक्षा का ध्यान

समस्त विश्व को भारत के अज्ञन अनुदान / ३६९

लंका निवासी बड़ी सतर्कता पूर्वक करते हैं। स्थापन मंदिर में तीन ताले लगे रहते हैं। एक चाबी सीलोन के गवर्नर के पास, दूसरी धर्माध्यक्ष के पास और तीसरी एक अन्य सभ्रांत व्यक्ति के पास रहती है, ताकि कोई उसे चुरा न सके। इस मंदिर की दीवारों पर नरक के १५ चित्र बने हैं, जिनमें दुष्कर्म करने वालों को परलोक में मिलने वाले दंडों का चित्रण किया गया है।

इसा से १५० वर्ष पूर्व बना हुआ बौद्ध स्तूप 'रुवन बलिसेवा' यहाँ की महत्वपूर्ण प्राचीन इमारत है। इसी प्रकार पर्वत शिला काट कर बनाई गई विशालकाय बौद्ध प्रतिमा भी दर्शकों के आकर्षण का केंद्र है। काण्ड में भगवान बौद्ध के दाँत का अवशेष (जिसे बौद्ध धर्म के अनुसार 'दंत-धातु' कहने का प्रचलन है) का मंदिर विमल धर्म सूर्य ने बनवाया था। उसे डचों ने सन् १७६५ में नष्ट कर दिया। कीर्ति श्रीराजसिंह ने इसको पुनः नए सिरे से बनवाया।

सिंहली बौद्ध-भिक्षु धर्म-प्रचार में विशेष उत्साह दिखाते रहे हैं। उन्होंने भारत, वर्मा, स्याम, मलाया, पेशावर एवं मध्य एशिया में धर्म-प्रचार के लिए जत्थे बनाकर प्रयाण किया था।

सन् ४२६ में सिंहल द्वीप की तीन भिक्षुणियाँ नानकिंग (चीन) पहुँची और उन्होंने न केवल धर्म-प्रचार किया वरन् शासन-तंत्र भी संभाला।

अवसान काल में बौद्ध प्रचारकों का अनुत्साह, राज्यात्रिय की कृपणता और गृह-कलह से लंका की स्थिति बिगड़ती चली गई। यहाँ तक कि उसे विदेशियों के आक्रमण का शिकार होना पड़ा। सन् १५०५ में पुर्तगालियों का लंका में प्रवेश हुआ और उन्होंने छल-बल से एक शताब्दी के भीतर ही अपना आधिपत्य जमा लिया। इसके बाद १६०२ में वहाँ डच पहुँचे। जनता पुर्तगालियों से आजिज आ गई थी। उन्होंने डचों की सहायता से उन्हें मार भगाया। पर इससे कुछ बना नहीं, वहाँ डच जम गए। इसके बाद सन् १७९५ में अंग्रेज डचों को भगाने और अपना कब्जा जमाने में सफल हुए।

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ३७०

सन् १५९४ से लेकर १६०२ तक पुर्तगालियों का शासन लंका पर रहा। उन्होंने मंदिर तोड़े, पुस्तकें जलाई और भिक्षुओं का कत्ल कराया। फलस्वरूप शेष भिक्षु अपनी जान बचा कर वहाँ से भाग गए। सत्रहवीं सदी में राजा कीर्ति ने स्याम से बौद्ध भिक्षु बुलाए और नए सिरे से भिक्षु संघ की स्थापना की। इन दिनों वहाँ स्याम-निकाय के भिक्षु ही अधिक हैं।

अरब, डच, पुर्तगाली यहाँ लगातार आक्रमण करते और अइडे जमाते रहे। सन् १७९६ में अंग्रेजों ने उन घुसपैठियों को खदेड़ कर अपना कब्जा जमा लिया और भारत के साथ-साथ लंका पर भी राज्य किया। सन् १९४८ में उसे ब्रिटेन ने राष्ट्रमंडल के अंतर्गत औपनिवेशिक सत्ता सौंप दी। तब से लंका भारत की ही तरह स्वतंत्र राज्य है और उसे नया नाम 'श्री लंका' दिया गया है। लंका का अधिक सांस्कृतिक विकास-विवरण जानने के लिए निम्न पुस्तकों से अच्छी जानकारी मिल सकती है। (१) एच. डब्ल्यू. फाउरिंगटन कृत-'ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ सीलोन' (२) जी. सी. मेण्डिस कृत-'दी अलीं हिस्ट्री ऑफ सीलोन' (३) बी. ए. स्मिथ कृत-'ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इंडिया एण्ड सीलोन'।

लंका में इन दिनों तीन धर्म हैं। (१) बौद्ध धर्म (२) ईसाई धर्म (३) हिंदू धर्म। वहाँ बहुत से हिंदू मंदिर हैं। रतनपुर और बदुल्ला में विशालकाय हिंदू मंदिर हैं। तामिल-भाषी यहाँ एक चौथाई हैं, जिनमें अधिकांश हिंदू हैं। उत्तरी लंका में द्रविण वास्तु कला के हजारों हिंदू मंदिर हैं, जिनमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश, कार्तिकेय, इंद्र आदि की मूर्तियाँ स्थापित हैं। बौद्धों के दो वर्ग हैं। एक विरक्त और दूसरे गृहस्थ। विरक्त लोग धर्म-प्रचार, तपश्चर्या और ज्ञान-साधना में निरत रहते हैं, अपना निर्वाह गृहस्थों से भिक्षा वृत्ति द्वारा प्राप्त करते हैं। गृहस्थ आजीविका उपार्जन, धर्मानुशासन का पालन तथा धर्म-संस्थाओं के लिए अनुदान की व्यवस्था करते हैं।

समस्त विश्व को भारत के अजन्त्र अनुदान / ३७१

लंका में सैंकड़ों विहार है। केवल कोलंबो नगर में ही २४ बड़े विहार हैं। इनके एक भाग में चैत्य होता है, जिसमें प्रमुख भिक्षुओं की अस्थियाँ स्थापित की जाती हैं। इन विहारों में एक बुद्ध का प्रतिमा मंदिर होता है और बोधि वृक्ष के वंशज पीपल के पेड़ की स्थापना की जाती है। प्रवचन और साधन प्रायः यहीं होते हैं।

श्रीलंका और वर्मा में इन दिनों बौद्ध धर्म के प्रसार-विस्तार का कुछ कहने योग्य उत्साह दिखाई देता है। लंका छोटा-सा देश है, पर उसने 'महा बोधि सभा' और 'विश्व बौद्ध सम्मेलन' नामक दो अंतर्राष्ट्रीय संगठनों को जन्म दिया है। उस देश से अनेक विद्वान भिक्षु विश्व में धर्म-चक्र प्रवर्तन के लिए यात्राएँ करते रहते हैं। वर्मा, स्याम, कंबोडिया, मंचूरियाँ, मंगोलिया, चीन, तिब्बत, हिंदचीन, लाओस आदि में बौद्ध धर्मावलंबी जनता का बाहुल्य है। इन देशों में भी उस महान धर्म को सुव्यस्थित एवं परिपुष्ट बनाने के लिए विविध प्रयास चल रहे हैं। स्याम ने अपनी लिपि में संपूर्ण पाली त्रिपिटिक ४५ बड़ी जिल्दों में छापा है। संसार में यही एक मात्र पाली का संपूर्ण त्रिपिटिक है, जो प्रकाशित होकर सामने आया है। नेपाली तथा जापानी बौद्ध भी अपने ढंग से धर्म-विजय के लिए कुछ प्रयत्न कर रहे हैं। मंगोलिया, चीन और तिब्बत में पिछली दशाब्दियों में बौद्ध धर्म की बहुलता थी, पर कम्यूनिस्ट शासन में उस दिशा में कुछ विशेष कर सकना उन लोगों के लिए संभव नहीं रहा।

बौद्ध धर्म प्रचार न सही, पर बौद्ध-दर्शन से संसार की जनता को परिचित कराने के लिए विश्व के ख्यातिनामा विद्वानों ने महत्वपूर्ण साहित्य का सृजन किया है। जर्मन विद्वान मैक्समूलर द्वारा स्थापित 'सेक्रेट बुक्स ऑफ दी ईस्ट' तथा 'सैक्रेट बुक्स ऑफ दि बुद्धिस्ट' नाम की दो ग्रंथमालाएँ प्रकाशित होती चली आ रही हैं, जिनके अंतर्गत अनेकों महत्वपूर्ण बुद्ध धर्म पर प्रकाश डालने वाले ग्रंथ छापे गए हैं। टी. डब्ल्यू. राइस डेविड्स ने इसी प्रयोजन के लिए

एक संस्था स्थापित की है—‘पाली टैक्ट्स सोसाइटी’ जिसके अंतर्गत सौ से अधिक बड़ी जिल्दों में बौद्ध साहित्य छपा है।

लंका भारत के समीप होते हुए भी जाति और धर्म को मिलाने की बीमारी से अछूता है। पति-बौद्ध, पत्नी-ईसाई। माँ-ईसाई, लड़के-बौद्ध। एक भाई मुसलमान दूसरा ईसाई। इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं। विवाहों में जाति, वंश का ध्यान तो रखा जाता है, पर धर्म की भिन्नता के कारण इसमें कोई अड़चन नहीं पड़ती। इस प्रचलन के कारण यहाँ ईसाई और मुसलमान आक्रमणकारियों को अधिक और स्थाई सफलता नहीं मिली। उन्होंने तलवार के जोर से जो धर्म-परिवर्तन कराया, स्थिति बदलते ही पुनः परिवर्तन हो गया और लोग अपने संबंधियों वाले धर्म में लौट गए। जिस तरह हमारे यहाँ ‘धर्म खतरे में’ का नारा लगाकर उत्पात खड़े कर दिए जाते हैं, वहाँ उसकी कोई गुंजायश नहीं। वहाँ धर्म के नाम पर उपद्रव कभी नहीं होते।

लंका का प्रधान उत्पादन कृषि है। आधे लोग किसान हैं। बड़े उद्योग और खदानों का प्रायः अभाव ही है। चाय, रबड़, नारियल का निर्यात होता है। कोयला, पेट्रोल, खनिज पदार्थ यहाँ तक कि चावल भी बाहर से मँगाना पड़ता है। जल-विद्युत से ही बिजली की आवश्यकताएँ पूरी करनी पड़ती हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में लंका की प्रगति आश्चर्यजनक है। प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय तक की पढ़ाई निःशुल्क है। इस देश में ८० प्रतिशत पुरुष और ६० प्रतिशत महिलाएँ शिक्षित हैं। साक्षरता के क्षेत्र में लंका एशिया में अग्रणी है।

सिंहलियों में बाल-विवाह नहीं होते। लड़कियाँ आमतौर से १८-२० वर्ष के बाद और लड़के २८-३० वर्ष के होने पर विवाह करते हैं। तलाक और विधवा विवाह का कोई प्रतिबंध नहीं है। विवाहोत्सव बिल्कुल सादगी से होते हैं।

लंका के हिंदुओं में तमिल अधिक हैं। उनमें से अधिकांश कृषक और श्रमजीवी हैं। कुछ व्यापार करते हैं और कुछ नौकरियों

में भी हैं। जाति-पांति और छुआछूत उनमें भारत की तरह ही प्रचलित है। उत्तरी तथा पूर्वी प्रांतों में इन्हीं की संख्या अधिक है। यहाँ के हिंदुओं का सबसे बड़ा तीर्थ खदिर गाँव में अवस्थित 'स्कंद-स्वामी' का मंदिर है। इस पर श्रावणी पूर्णिमा को मेला लगता है।

श्रीलंका में कुल मिलाकर १० लाख भारतीय हैं। दो लाख चाय बागानों में काम करते हैं। बड़े व्यवसायी और कारखानेदार तो बहुत थोड़े हैं। थोड़े से चेट्टियर (तमिल) चाय बागानों के मालिक हैं। सिंधी, गुजराती, काठियाबाड़ी और पारसी भी व्यवसाय करते हैं। 'सर्वोदय श्रमदान संगम' की प्रवृत्तियों ने उस देश में गांधीवाद चेतना उत्पन्न की है और कई उपयोगी रचनात्मक कार्य आरंभ किए हैं।

जिस लंका का वर्णन पुराणों में मिलता है वह वर्तमान सिंहल द्वीप (श्री लंका) से भिन्न है। यह सुमात्रा हो सकता है। उसी क्षेत्र में कंचनगिरि पर्वत है। वाल्मीकि रामायण में संभवतः इसी का 'स्वर्णगिरि' नाम से उल्लेख हुआ है। ब्रह्मांड पुराण में ५३वें अध्याय में इसी को 'कांचन पद' कहा गया है।'



پاکستان-ہماری سांس्कृتیک دुर्बलतا کا پریفیل

سیندھ پ्रांत چیرکال سے بھارت کی سांسکृتیک بُری کا کेंद्र رہا ہے۔ یوں چیر پرا�ین کال میں بھارتی یہ رم کا عدھبھ و عتھارا خبند اور آریا ورت میں ہوا۔ جنکو پیछے وہتھر بھارت نیماں کی بُرمیکا میں سیندھ پرانت کو ویشے مہتھ میلنا۔ وہاں سے مधی ایشیا تھا پشیتم ایشیا کے دیشون کے ساتھ سامودھی مارگ تھا جل مارگ ادھیک سُوویڈھا جانکا تھا۔ ویاپار، شاسن، رم پرچار ان تینوں ہی پروجئن کے لیے سیندھ ادھیک سامیپ اک سُوویڈھا جانکا پڈتا تھا۔ اسٹو، عس کھڑے میں بھارت کی مہتھ پورن کشمکشا اکٹھیت ہوتی چلی گئی۔

مধی ایشیا کے نیواسیوں کی پہنچ پرایا: سیندھ کھڑے تک ہی ہو پاتی تھی۔ اس لیے وے عتھے ہی کھڑے کو بھارت مانا تھے۔ عنکی بھاشا میں 'س' کا عच्चارण 'ہ' کے روپ میں ہوتا ہے۔ سیندھ کو ہیندھ کہتے تھے۔ پیছے وہی شबد 'ہیند' بن گیا۔ ہیند کے نیواسی 'ہیندو'۔ ہیندوؤں کے رہنے کا بُرمی 'ہیندھستاں'۔ بھارت کو ہیندھستاں کہے جانے کا پرچلنا اسی پرکار ہوا۔ اس پرچلنا سے اک بات سپष्ट ہوتی ہے کہ کبھی بھارت کا سیندھ پرانت بہت ہی سشکتا رہا ہے اور عس کی ڈاک سامسٹ پشیتمی ایشیا ہی نہیں یوراپ، افریکا تک چاہی رہی ہے۔ جلیاں دھارا عپاروکھ تریویدھ پروجئن کے لیے ویدے ش جانے والے بھارتیوں کو یہیں ڈرہا ڈالنا پڈتا تھا۔ اسٹو، وہ پرداش ن کے ول سمعدھ کا ورن سانسکرت کا بھی کے در بنتا چلا گیا۔

سامسٹ ویشی کو بھارت کے اجسٹر انویان / ۳۷۵

बौद्ध कालीन भारत का इतिहास 'सिंध' प्रांत की विशेषताओं से भरा पड़ा है। वहाँ के राजाओं ने आगे बढ़कर बौद्ध धर्म स्वीकार किया और मध्य एशिया में उसे पहुँचाने के लिए शक्ति भर चेष्टा की थी। इतना ही नहीं कभी हिंदूकुश और हिमालय लाँघकर जो विदेशी आक्रमणकारी भारत में प्रवेश करते थे तो सिंध प्रांतीय शासन उनका मुँह तोड़ उत्तर देता था। इस पूरे क्षेत्र में भारतीय धर्म एवं संस्कृति का वर्चस्व सिद्ध करने वाले अगणित प्रमाण अवशेष भेरे पड़े हैं। आज तो सिंध को पाकिस्तान के नाम से विदेश के रूप में गिना पड़ता है, पर सन् १९४७ ई० से पूर्व ऐसी स्थिति न थी। वहाँ भारतीय संस्कृति के प्रमाण खोजने की बात ही उपाहासास्पद होती। अपने ही देश में अपनी ही संस्कृति के प्रमाण तो पग-पग पर थे ही, उन्हें खोजता ही कोई क्यों?

सिंध की तरह पंजाब और कश्मीर के प्रांतों की बात है। 'तक्षशिला विश्व विद्यालय' रावलपिंडी के पास था। उस समृद्ध विश्वविद्यालय की उपयोगिता इसलिए भी थी कि एशिया तथा योरोप के अधिकांश भाग को भारत के स्थल से यही क्षेत्र जोड़ता था। कश्मीरी पंडितों की न केवल भारत में वरन् विदेशों में भी धारक थी। तक्षशिला विश्वविद्यालय के प्रशिक्षण का कार्य प्रायः वे

समालते थे; चीन और तुकस्तान ये प्राचीन काल में हिंदू धर्म नहीं पहुँचाया था आर मध्यकाल में उसके सुधरे हुए रूप बौद्ध को मध्य एशिया तथा पाश्चात्य एशिया में पहुँचाने के लिए उन्होंने विशेष साहस दिखाया और साधन जुटाए। काश्मीर के जिस क्षेत्र में इन दिनों पाकिस्तान का कब्जा है, प्राचीन काल में भारतीय धर्म शिक्षण का वह महत्वपूर्ण केंद्र था।

पाकिस्तान के डाकरी स्टेशन से १० किलोमीटर आगे मोहनजोदहो नामक नगर के खंडहर खोद निकाले गए हैं। उपलब्ध अवशेषों से उस नाम की प्राचीन आर्य सभ्यता का पता चलता है। उन दिनों कितनी समुन्नत स्थिति के साधन थे और कितने

सुविकसित लोग रहते थे, इसका पता सहज ही चल जाता है। हड्ड्या की खुदाई में भी इसी तथ्य की पुष्टि करने वाले महत्वपूर्ण अवशेष मिले हैं।

पिछली शताब्दियों में सिख धर्म का उद्भव और विस्तार पंजाब प्रांत में हुआ। गुरु नानक से लेकर गुरु गोविंद सिंह तक की शिष्य परंपरा पूरे पंजाब प्रदेश में फैली और वहाँ से उसका विस्तार समस्त देश में हुआ। इसके पूर्व भी यह प्रांत संस्कृति से उसी प्रकार ओत-प्रोत था जिस प्रकार कि भारत के अन्यान्य क्षेत्र प्रदेश। आज पाकिस्तान में हिंदू संस्कृति के आधार खोजने के लिए प्रमाणों को तलाश करने की आवश्यकता पड़ सकती है। पर पूर्व काल में इस तरह से सोचने की कोई तुक न थी। अभी भी कोई पाकिस्तान जाए तो प्रायः हर गाँव में सक्रिय और निष्क्रिय देव मंदिरों की ऐतिहासिक धर्म संस्थानों की साक्षी बिखरी पड़ी होगी। उत्तर भारत में आर्यों का बाहुल्य था। पंजाब का नंबर अभी भी आगे है। पौराणिक और ऐतिहासिक पर्यवेक्षण करने पर विभाजित पंजाब को विदेश कहने की बात इन परिस्थितियों में भी नहीं बनती। भारतीय पंजाब और पाकिस्तानी पंजाब में अब इतना ही अंतर पड़ा है कि उन लोगों ने सांप्रदायिक जनून में पंजाबी भाषा को उखाड़ फेंकने और जातीय एकता को नष्ट करने में एक सीमा तक सफलता प्राप्त कर ली है। किंतु आकृति और प्रकृति का साम्य अभी भी विद्यमान है। रक्त और वंश भी एक हैं। ऐसी दशा में यह आशा करना असंभव नहीं है कि जब धर्माधिता का बुखार उतरेगा और शांतचित्त से अपने इतिहास पर दृष्टि डालने का अवसर मिलेगा तो पच्छम पंजाब और पूर्व पंजाब के लोगों की नसों में बहने वाला एकसा रक्त कभी न कभी फिर एकता की बात सोचेगा और उस दिशा में आगे बढ़ेगा।

भारत में इस्लाम धर्म के विस्तार की पृष्ठ-भूमि अत्यंत स्पष्ट है। मध्य एशिया के आक्रमणकारी उसे इस देश में लाए। पराजितों को तलवार की नोंक पर उसे स्वीकार करना पड़ा। कल्ले आम,

जजिया आदि के मर्मांतक दबावों को सहन कर सकना जिन लोगों के लिए संभव-शक्य न हो सका, वे इस धर्म में दीक्षित हो गए। यों ऐसे लोग भी कम न थे जिन्होंने चोटी कटाने की अपेक्षा सिर कटाना अधिक गौरवास्पद समझा और अपने जीवित बच्चों को दीवार में चिना जाना बलात् धर्म परिवर्तन की तुलना में अच्छा समझा।

आक्रमणकारियों को जहाँ पैर जमाने का अवसर मिला वहाँ उन्होंने अपहृत भारतीय ललनाओं को अपने बाड़े में कैद किया उनसे संतानें उत्पन्न करके वंश वृद्धि को धर्म वृद्धि का एक तरीका बनाया। प्रलोभनों से भी काम बनाया। कुछ को आकर्षक धर्मोपदेशकों ने और राज्य-सहकार पाने के आकर्षण ने भी अपनी ओर खींचा। इस प्रकार उस धर्म का विस्तार होने लगा। उन दिनों राज्य धर्म ही प्रजा का धर्म बन जाता था।

इस्लाम के विस्तार का एक और पक्ष था, जिसने आक्रमणकारियों के प्रयासों की उपेक्षा सौ-गुना अधिक पथ प्रशस्त किया। अंधकार युग की जाति-पांति, ऊँच-नीच, छूआचूत की विकृति हिंदुओं में उन दिनों बेतरह छाई हुई थी। एक बार जो व्यक्ति किसी प्रकार मुसलमानों के संपर्क में आ गया, जबर्दस्ती मुँह में मांस टूँस देने, झूठा पानी पिला देने, छू जाने के बाद कोई हिंदू अपने धर्म में सम्मिलित नहीं रह सकता था। कुँए में गौ-मांस डाल दिया गया, उसका किसी को पता न था। पूरे गाँव ने उसका पानी पी लिया। पीछे उस कृत्य को करने वालों ने घोषणा कर दी, बस पूरा गाँव जाति बहिष्कृत हो गया और उसे मुसलमान ठहरा दिया गया। इस प्रकार के बहिष्कार में कट्टर पंथी पुरोहितों ने बहुत उत्साहपूर्वक भाग लिया। धर्म-रक्षा के नाम पर वे आगे बढ़कर इस मुहीम को चला रहे थे। असल में उन्हें गुप्त रूप से आक्रमणकारी विधर्मियों द्वारा मोटी रिश्वतें दी जा रही थीं। जागीरें बख्ती जा रही थीं। सरकारी अधिकारी उन्हें हर तरह की सहायता देते और जनता में सम्मान बढ़े ऐसी चमत्कारी किंबदंतियों के फैलाने में पूरा प्रयास

करते थे। एक ओर जहाँ सच्चे धर्मनिष्ठ को मर्मांतक पीड़ा देकर मौत के घाट उतारा जा रहा था, वहाँ दूसरी ओर मिली भगत वाले साधु बाबाओं और पंडितों को पूरा-पूरा प्रत्यक्ष और परोक्ष राज्याश्रय मिल रहा था। पिछले एक हजार वर्ष में भारत में नित-नए संप्रदाय जन्मते रहे हैं, नित नए चमत्कारी धर्म गुरु उपजते रहे हैं। इनका एक प्रयोजन तो भारत की धार्मिक एकता को नष्ट करके फूट के बीजों को अधिकाधिक विस्तृत करना था, और दूसरी ओर कट्टरता के समर्थक नए-नए सिद्धांत गढ़कर बहिष्कार दुरभिसंघि को पूरी तरह बल देना था। इस प्रकार इन संप्रदाय संस्थापक-चमत्कारी तथा कट्टर-पंथी लोगों ने भारत में मुसलमानी धर्म फैलाने में वह भूमिका निबाही, जो प्रत्यक्ष रूप से किए गए बल-प्रयोग करने वालों की तुलना में हजारों गुना अधिक सफल सिद्ध हुई।

स्वेच्छा से धर्म परिवर्तन वाले कम थे। बहुत करके भय एवं लोभ की विवशता से धर्म बदलना पड़ा। इससे भी हजारों गुने वे लोग थे जिन्हें कट्टरता ने बलपूर्वक विधर्मी खेमे में प्रवेश करने के लिए बाध्य कर दिया। अछूतों के साथ जो अमानुषिक एवं अपमानजनक असमानता बरती जा रही थी, उससे पिंड छुड़ाने के लिए भी उनने विधर्मी बन जाना अधिक श्रेयस्कर समझा। इस प्रकार एक ओर से दबाव और दूसरी ओर से बहिष्कार ने दो पाटों वाली चक्की का काम किया और उसमें पिस कर अनाज का बहुत भाग आटा बन गया। इसी प्रकार संख्या बढ़ती चली गई और वह इतनी अधिक पहुँची कि पाकिस्तान के रूप में विभाजन सामने आ खड़ा हुआ।

यह ठीक है कि अंग्रेजों ने इसके लिए मुसलमानों को पूरी तरह प्रोत्साहित किया और सहयोग दिया। धर्माधाता के आवेश में बैंटवारे की माँग उठाई और उसी को पूरा कर लिया गया, पर हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि इससे भी अधिक बड़ा कारण हमारी अपनी वे दुर्बलताएँ थीं, जो अंधकार-युग में संस्कृति के भीतर

* * *

छद्मवेश धारण कर घुस पड़ी थीं। भाग्यवाद, ईश्वर इच्छा से सब कुछ होना, होनहार-भवितव्यता-मनुष्य का नियति के हाथ का खिलौना होना, और दार्शनिक भ्रष्टाओं ने हिंदू जाति के चिंतन को बुरी तरह परावलम्बी बना दिया था। लोग भवितव्यता बनाने वाले देव-दानवों का, ग्रह-नक्षत्रों का इंतजार करते थे। अपने को सर्वथा असहाय मानते थे। सहायता के लिए किन्हीं परोक्ष शक्तियों का द्वार खटखटाते थे। सोमनाथ मंदिर नष्ट होते समय पंडितों का राजाओं को युद्ध करने से रोकना और अनुष्ठान चालू करना इस तथ्य का प्रमाण है। ऐसे ही प्रमाणों की उन दिनों भरमार थी। अस्तु, आक्रमणकारियों का रास्ता बिना किसी विशेष प्रयास के अपने जाप साफ होता चला गया। प्रतिरोध के नाम पर उन्हें बहुत अड़चन नहीं उठानी पड़ी।

छद्मवेशी धर्मगुरुओं का बहिष्कार अस्त्र इतना प्रबल था जिसने तत्कालीन धार्मिक जनता के सिर पर अपना जादू चढ़ाकर अपनों को बिराना बनाने में बहुत बड़ी भूमिका निवाही। जो लोग अपने धर्म को छोड़ना नहीं चाहते और फिर से हिंदू-धर्म में ही रहने को लालायित थे, उन्होंने शताब्दियों तक इसकी प्रतीक्षा की किंतु उन्हें इसका सौभाग्य न मिल सका। ऐसे 'नौ मुसलिम' लाखों-करोड़ों की संख्या में पिछले दिनों तक रहे हैं, जिन्होंने अपने नाम, गोत्र, प्रचलन, धर्मकृत्य, संस्कार हिंदू-परंपरा के अनुरूप बनाए रखे। थोड़े रिवाज मुसलमानों के भी वे अपनाते थे, पर साथ ही हिंदू परंपराओं पर उनकी निष्ठा कम न थी। ऐसी दशा में वे न पूर्ण मुसलमान थे, न पूर्ण हिंदू। उन्हें 'नौ मुस्लिम या मलकाना' कहा जाता था। हरियाना प्रांत तथा उत्तर प्रदेश के पच्छमी जिले इन्हीं अर्द्ध-हिंदु-अर्द्ध-मुस्लिमों से भरे पड़े थे। वे पूर्ण मुसलमान तो तब हुए हैं जब मुस्लिम लोग ने धर्माधिता का विष सर्वत्र पूरी तरह संव्याप्त करने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना बहाना आरंभ कर दिया।

जरा-जरा सी बात पर जातिच्युत करके उन पर इतने प्रतिबंध लगाना कि उनके लिए उनको मानने अथवा विधर्मी होने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा ही न रहे, हिंदू धर्मानुयायियों की पिछले दिनों भारी दुर्बलता रही है। असंख्य विधवाओं को बलात् वैधव्य निबाहने के प्रतिबंधों ने उन्हें अन्य धर्मानुयायी बनने या वेश्यावृत्ति अपनाने के लिए विवश किया, यह तथ्य किसी से छिपा नहीं है। जहाँ अन्य धर्माविलंबी दूसरे धर्म वालों को अपने संप्रदाय में दीक्षित करने के लिए प्रचुर धन, प्रभाव और साधन लगाते रहे हैं, वहाँ हिंदू धर्मानुयायियों ने ठीक उसका उल्टा किया। वे अपने अंगों को काट-काटकर फेंकने में बहादुरी और बड़ाई अनुभव करते रहे।

मुसलमान और ईसाई धर्म पिछले एक हजार वर्षों में आँधी और तूफान की तरह बढ़े हैं। दोनों धर्मों को मिलाकर संसार की प्रायः दो-तिहाई जनता इन धर्मों में दीक्षित हो गई है। इसके मुकाबले हिंदू धर्म निरंतर घटा है। देश की जनसंख्या वृद्धि के हिसाब से हिंदू धर्मानुयायी नहीं बढ़ रहे हैं वरन् उनका अनुपस्थित घटता जा रहा है। इसका एकमात्र कारण अभी तक उन दुर्बलताओं का जीवित रहना है, जिनने पिछले दिनों अपनों को विराना बनाने की भूमिका निबाही थी।

अछूतों के साथ हमारा व्यवहार प्रायः वही है। सरकारी कानून का असर थोड़े पढ़े-लिखे लोगों और शहरों में ही हुआ है। देहाती अशिक्षित क्षेत्रों में स्थिति जहाँ की तहाँ है। ऐसी दशा में उनकी प्रवृत्ति विधर्मी बनने के लिए उभरती है तो उसमें अनुचित भी क्या है? कौन अकारण अपने मानवीय अधिकारों का हनन कराता हुआ किसी अविवेकी वर्ग का अंग बने रहना स्वीकार करेगा। पिछले दिनों वे मुसलमान बनते रहे, अब उसी तेजी से ईसाई धर्म की शरण में जा रहे हैं।

इसका कारण अपनी ही दुर्बलता है। जब तक उसे दूर न किया जाएगा, मात्र शुद्धि संस्कार करके धर्म में वापस बुला लेने के

मनोविनोद से भी कुछ काम न चलेगा। अन्य धर्मों से शुद्ध करके हिंदू धर्म में प्रवेश करने वालों के लिए जब तक रोटी-बेटी का द्वार नहीं खुलेगा, तब तक शुद्ध हुए लोग अपने को और भी विकट स्थिति में अनुभव करेंगे और उस शुद्धि को छोड़कर फिर उसी पुरानी 'अशुद्धि' में लौट आएँगे।

पाकिस्तान सन् १९४७ में पहले बन चुका। ईसाइस्तान की नागालैंड के रूप में शुरूआत हो गई है।

केरल का एक जिला मुसलमान बहुल बनाने की दृष्टि से विनिर्मित हुआ है। यह सांप्रदायिक आधार पर बिखराव के चिन्ह हैं। सिखिस्तान, द्रविणिस्तान की माँगे अपने स्थान पर कायम हैं। उनके कारण प्रत्यक्षतः चाहे जो कहे बताए जाते हों, पर मूलतः हिंदू धर्म की दुर्बलता ही उसका कारण है। इसी ने एकता के मूलभूत जातीय आधार को खो कर विलगाव और बिखराव के हेय तत्वों को अपने भीतर गहराई के साथ प्रश्रय दिया हुआ है। अलग राज्यों की माँग न करने पर हर धर्म, हर जाति-बिरादरी का अपना एक अलग देश, समाज बना हुआ है। एक छोटे वर्ग के लोग उस छोटे से दायरे में ही रोटी-बेटी का व्यवहार करके और अन्य वर्ग के लोगों को अपने से पृथक ही नहीं, नीच, हेय भी मानते हैं।

जातियों और उपजातियों के नाम पर यह प्रथकतावादी विष इतना गहरा घुस गया है कि वस्तुतः हिंदू जाति कहने भर को एक जाति है अन्यथा उसमें नारंगी के अंदर फौंक वाला दयनीय दृश्य ही दिखाई पर रहा है। यह हजारों जातियों-उपजातियों में बँटी-बिखरी पड़ी है और पारस्परिक सहयोग के सूत्र पूरी तरह छिन-भिन हो रहे हैं। यह रोग यहाँ तक बढ़ा है कि अब राजनीतिक चुनावों में भी जाति-बिरादरी को ही प्रधान-प्रश्रय मिलने लगा है। वोट माँगने और देने में लोग जाति पक्ष के लिए अधिक आकर्षित प्रभावित होते हैं। सर्वर्णों में भी-एक जाति में भी-उपजातियों के आधार पर नीच-ऊँच का हिसाब लगाया

जाता है। फिर अन्य जातियों को ऊँच-नीच के हिसाब से नापा-खोला जाए तो आश्चर्य ही क्या है?

पाकिस्तान क्या है? कितना है? कैसा है? इसकी विवेचना, बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। हमें उसके पीछे सन्निहित अपनी उन दुर्बलताओं को ही साकार बनाकर खड़ा देखना चाहिए, जो पिछले दिनों हमारे जातीय जीवन में भयावह विकृतियों के रूप में, गहराई तक प्रविष्ट हो गई हैं। एक शब्द में पाकिस्तान का वर्णन करना हो तो उसे हमारी सांस्कृतिक, धार्मिक एवं दार्शनिक भ्रष्टता का मूर्तिमान अभिशाप कह सकते हैं। अन्यथा जो मुट्ठी भर विधर्मी बाहर से आए वे हमारी भूतकालीन महानता यदि जीवित रही होती तो उसी में धुल कर आत्मसात हो गए होते। यदि हमारी चिंतन भ्रष्टता उत्पन्न न हुई होती तो निश्चय ही नक्शा आज से सर्वथा भिन्न प्रकार का होता। तब भारत दिन-प्रति-दिन घटता-बढ़ता दिखाई न देता। नेफा, आक्साई चीन, वर्मा, लंका, को विदेश की तरह न गिनना पड़ता। तब पाकिस्तान और बंगला देश भी पृथक-पृथक न होते। वृहत्तर भारत के समय जो सूत्र, जो आदर्श हमारे सामने थे, यदि उन्हें सुरक्षित रखा जा सका होता, तो बिखराव के दुर्भाग्य का वर्णन-विवेचन करने के लिए ये पंक्तियाँ लिखने की कोई आवश्यकता न पड़ती।



बंगदेश-बंगला देश

बंगला देश १५ अगस्त १९४७ तक भारत ही था। यह अभिन्नता लाखों वर्ष से चली आ रही थी। इससे पूर्व कभी किसी ने कल्पना भी नहीं की थी कि बंगाल जो अन्य प्रांतों की तरह इस देश का अविच्छिन्न अंग था, कटकर अलग हो जाएगा।

अंग्रेजी सरकार ने सन् १९०४ में यह प्रयत्न किया था कि शासन व्यवस्था की सुविधा की दृष्टि से बंगाल को दो भागों में विभाजित कर दिया जाए। उस योजना के विरुद्ध अत्यंत तीव्र प्रतिक्रिया हुई। बंग-भंग आंदोलन चला। बंगाली अपनी एकता के इस छोटे आधार पर थोड़ी सी भी चोट पड़ना सहन नहीं कर सकते थे। अस्तु, आंदोलन ने उग्र रूप धारण किया और अंततः अंग्रेजों को वह विभाजन रद्द करके पूरा बंगाल एक ही रहने देने के लिए बाध्य होना पड़ा।

इसे दुर्भाग्य का एक दौर ही कहना चाहिए कि भारत को स्वतंत्रता के साथ-साथ विभाजन का अभिशाप भी सहन करना पड़ा। एक बड़ा भू-भाग पाकिस्तान के रूप में कटा, जिसमें से सिंध और पंजाब प्रांत पच्छिमी पाकिस्तान में चले गए और बंगाल आधा कटकर पूर्वी पाकिस्तान बन गया। विभाजन की कटुता अब २७ वर्ष बीत जाने पर भी दूर नहीं हो पाई है।

जनसंख्या की दृष्टि से पच्छिमी पाकिस्तान पूर्वी पाकिस्तान से कम था। फिर भी पंजाबी मुसलमान हर तरह से बंगालियों का शोषण करने पर तुले थे। उनकी भाषा, संस्कृति, भावना परंपरा सब कुछ नष्ट करके उन्हें अरब बनाने के लिए चोटी-एड़ी का पसीना

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ३८४

एक कर रहे थे। बंगाली भाषा समाप्त कर उसके स्थान पर उर्दू अपनाने के लिए उन्हें बाध्य किया जा रहा था। बंगाली एक प्रकार से दूसरे दर्जे के नागरिक थे। उनका किस हद तक शोषण संभव है, इसी के ताने-बाने लगातार बुने जा रहे थे। बात जब अति की सीमा तक पहुँच गई तो शेख मुजीबुरहमान के नेतृत्व में विद्रोह फूट पड़ा। सभी जानते हैं कि उसे दबाने के लिए पंजाबियों ने ऐसा नृशंस कल्पनाम किया, जिसकी तुलना इतिहास में कहीं कदाचित ही मिल सके। ३० लाख से अधिक देश भक्त नागरिकों को मौत के घाट उतार दिया गया। अपहरण, बलात्कार, लूट-खसोट, दमन के अन्य तरीकों का तो कहना ही क्या? उस बर्बरता से भयभीत बंगाली प्रजाजनों में से करीब एक करोड़ भाग कर शरणार्थी के रूप में भारत चले आए। इस दबाव को भारत कब तक सहता? अंततः उसने विद्रोहियों को सहायता भेजी। जम कर लड़ाई हुई और सन् १९७१ में बंगला देश स्वतंत्र हो गया। अब उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है।

विभाजन से पूर्व बंगला देश भी विशुद्ध रूप से भारत ही था। भारत और बंगाल का प्राचीन इतिहास एक है। देश के अन्य प्रांतों की तरह वहाँ भी एक ही संस्कृति, एक ही परंपरा रही है।

बंगला देश का प्राचीन नाम बंग देश है। चिरकाल पूर्व यहाँ पौँड़ वंशी राजा राज्य करते थे, पीछे सेन वंशियों का शासन हुआ। पूरा क्षेत्र हिंदू धर्मानुयायी था और संस्कृत राजभाषा थी। सन् ९०० से ११०० तक दो सौ वर्ष बौद्ध धर्मानुयायी पाल वंशी राजाओं का शासन रहा। उन दिनों पाली राजभाषा बनी। अंतिम राजा लक्ष्मण सेन थे। उनके समय इस्लामी धर्म प्रचारक वहाँ पहुँचने लगे थे। उन्हीं दिनों एक तुर्की फकीर थे-शेख जलालुद्दीन तिवरी। राजा लक्ष्मण सेन उन्हें बहुत मानते थे। उनसे आवश्यक सूचनाएँ पाकर सन् १२०४ में तुर्क सरदार मुहम्मद बख्तियार खिलजी ने हमला कर

दिया। केवल १८ घुड़सवारों से उसने महल पर कब्जा कर लिया और लक्ष्मण सेन भाग खड़े हुए। इसके बाद क्रमशः बंगाल के सुविस्तृत क्षेत्रों पर मुसलमानों का कब्जा होता चला गया और इस्लाम धर्म फैलना आरंभ हो गया।

बंगला देश का क्षेत्रफल ५५१२६ वर्गमील है, समुद्री सीमा ४३० मील। पिछली जनगणना के अनुसार वहाँ की जनसंख्या सात करोड़ के लगभग मानी गई थी। बंगला देश संसार के सबसे घने बसे देशों में से है। औसत आबादी एक वर्गमील पीछे ९५० व्यक्ति है। ढाका जिला घनेपन की दृष्टि से संसार भर में सबसे आगे है। वहाँ प्रति वर्गमील १७६८ मनुष्य बसते हैं। इस क्षेत्र के मुंशीगंज क्षेत्र में यह औसत बढ़कर प्रति वर्गमील २५०० व्यक्तियों तक जा पहुँची है। लोहागंज तो और भी ज्यादा घना बसा है, वहाँ प्रति वर्गमील ३ हजार व्यक्ति रहते हैं। इस देश की ९६ प्रतिशत जनता देहातों में निवास करती है। गरीबी और घनेपन को देखते हुए यहाँ जन्म-दर बहुत बड़ी-चढ़ी है। जिस हिसाब से बच्चे पैदा हो रहे हैं, उसे देखते हुए दस वर्ष में दूनी हो जाएगी और नए-नए संकट उत्पन्न करेगी।

ढाका का नामकरण ढाकेश्वरी देवी के नाम पर हुआ है। यह प्राचीन मंदिर सुविख्यात है। प्राचीन काल के बौद्ध मंदिरों की इस नगर में भरमार है। उनमें से कितने ही फूटे पड़े हैं, कितनों में ही भिक्षुओं का निवास है, कुछ मठ वर्मा शैली पर बने हैं।

चटगाँव जिला वर्मा सीमा से मिला है। इस क्षेत्र में अधिकांश लोग बौद्ध धर्मावलंबी हैं। कुमिल्ला से पाँच मील आगे खुदाई होने पर 'मेनामति' नामक प्राचीन नगर के ध्वंशाशेष मिले हैं, जिनमें हिंदू तथा बौद्ध मंदिरों, स्तूपों, मठों की भरमार है यह सातवीं सदी में बौद्ध धर्म का केंद्र रहा है। उपलब्ध सिक्कों और प्रतिमाओं से इस सांस्कृतिक केंद्र की गौरव गाथा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। राजशाही जिला के पहाड़पुर नगर में अत्यंत विशालकाय बौद्ध विहारों के

अवशेष हैं। यह पहाड़ जितना ऊँचा दिखाई देने से ही पहाड़पुर कहलाता है।

पिछली जन-गणना के अनुसार बंगला देश में हिंदुओं की आबादी लगभग एक करोड़ थी। रंगपुर, दीनाजपुर, फरीदपुर, ढाका और खुलना जिलों में हिंदुओं की संख्या अधिक थी। फरीदपुर जिले में हिंदूओं का बहुमत था। बौद्धों की आबादी भी चार लाख के लगभग थी। हिंदु संख्या की दृष्टि से अल्पमत होने पर भी, सांस्कृतिक दृष्टि से वहाँ हिंदू संस्कृति का प्राधान्य है। वेष-भूषा, भाव, भाषा, साहित्य, सभ्यता में पूरी भारतीयता है। इस देश के निवासी कट्टरपंथी नहीं हैं। उनका हिंदू धर्म के प्रति न तो द्वेष है और न असहिष्णुता का भाव-

अब बंगलादेश की राजभाषा बंगाली है, बंगाली साहित्य भारतीय संस्कृति की छाया से पूरी तरह अनुप्राणित है। धर्म की दृष्टि से वहाँ मुसलमानों का बाहुल्य है, पर भाषा, वेष, भाव आदि की दृष्टि से हिंदू बंगाली और मुसलमानी बंगाली में कोई विशेष अंतर नहीं है। जो विष पिछली शताब्दी में वहाँ फैलाया गया और पृथकता तथा घृणा का वातावरण उत्पन्न किया गया, अब समय है जब उसे आसानी से घोया जा सकता है और भौगोलिक न सही-सांस्कृतिक एकता का शिलान्यास किया जा सकता है।



प्रवासी भारतीयों की वर्तमान स्थिति

प्रवासी भारतीयों की संख्या संसार भर में फैली हुई है। वे न्यूनाधिक मात्रा में १२६, देशों में बसे हुए हैं। पिछली जानकारियों के आधार पर वर्मा में ३ लाख, मलेशिया में ९.५ लाख, इंडोनेशिया, थाईलैंड आदि पूर्वी द्वीप समूहों में १२ लाख, मौरीशस में ५ लाख, गायना में ३.५ लाख, ट्रीनीडाड में ३ लाख, फिजी में ३ लाख बसे हैं। मौरीशस में ६७ प्रतिशत और फिजी तथा गायना में आधे और ट्रीनीडाड में एक तिहाई हैं। फिजी से पिछले दिनों भारी संख्या में भारतीयों का पलायन हुआ है।

संसार के विभिन्न भागों में भारतीय सुशिक्षित प्रतिभाएँ जाकर बस गई हैं। सन् १९८८ की जानकारी के अनुसार इनमें ९४९७ चिकित्सा वैज्ञानिक, १७५६७ इंजीनियर, १२५०० टैक्नीशियन, ६०६ गणित शास्त्री, ३०५ समाज शास्त्री थे। भारत की अपेक्षा अधिक आर्थिक सुविधाएँ पाने के प्रलोभन में इन्हें अपनी मातृभूमि का मोह छोड़कर अन्यत्र जाना पड़ा है।

पिछले दिनों राष्ट्रवाद की जो हवा संसार भर में फैली है उसके कारण विदेशियों को अपने देश से खदेड़ देने की लहर सर्वत्र बह रही है। उसकी चपेट में उन भारतवासियों को भी जाना पड़ा है जो उन देशों में पीढ़ियों से बसे हुए हैं और स्थाई नागरिक बन गए हैं। उदार देशों का दृष्टिकोण दूसरा है। वे भारतीयों की श्रमशीलता एवं पूँजी का लाभ लेना चाहते हैं और न्याय का आदर करते हैं, पर जहाँ संकीर्ण राष्ट्रवाद है, वहाँ अपनों को ही रहने देने की प्रवृत्ति चल रही है, अन्यों को उखाड़ा जा रहा है। विशेष कर उन्हें जिन्हें स्थिर नागरिकता प्राप्त नहीं हुई है और अस्थाई परिपत्रों

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ३८८

पर वहाँ निवास कर रहे हैं। वहाँ की सरकारें जब अधिक दिन ठहरने की आज्ञा नहीं देती, तब उन्हें अन्यत्र जाना पड़ता है।

इन परिस्थितियों में किस देश में प्रवासी भारतीयों की कितनी संख्या है इसकी सही गणना बतला सकना कठिन है, पर पिछले दिनों जो सर्वेक्षण किया गया है उसके अनुसार संसार के प्रायः १२६ देशों में लगभग पौने तीन करोड़ भारतीयों की जानकारियाँ प्राप्त हुई हैं। इनका विवरण इस प्रकार है :-

अफगानिस्तान	३०,०००	सीलोन	१२,३४,१२६
अदन	६,०००	चायना	५९२०
अलजीरिया	१,१३२	चीली	३६३
अर्जेटीना	१,१६०	कोलंबिया	२३४
अस्ट्रेलिया	५५१०८	कैमार्सद्वीप	८५
आस्ट्रीया	१,६५०	काँगो	६,०००
बेहरीन	१५,५००	क्यूबा	३२०
बारबोडोज	१,५१२	साइप्रस	८०
बेलजियम्	२,३७७	जेकोस्लोवाकिया	११०
बोलीविया	३५	दहोमे	२०
बोस्टवाना	७१०	डेनमार्क	२,५६०
ब्राजील	३,३००	ईथोपिया	४५,२००
बुलगारिया	(अप्राप्य)	फिजी	१,४१,०००
वर्मा	२,५२,०००	फिनलैंड	२८०
बुरुंडी	३७५	फ्रैंच गायना	३२०
कंबोडिया	९८०	फ्रांस	११,२००
कैमरून	३२०	घाना	३७५०
कनाडा	८०,०००	जिब्राल्टर	२५०
ग्रेनेडा	९,५००	लीबिया	१,९३५
ग्रीस	३१३	साइबेरिया	(अप्राप्य)
गायना	४,७४,०००	मेडागास्कर	२६,०००

समस्त विश्व को भारत के अजस्त अनुदान / ३८९

हाँगकाँग	८ से १० हजार	मलावी	२१,०००
हँगरी	४४५	मलेशिया	१२,५०,०००
इंडोनेशिया	३५,०००	माल्टा	१००
इरान	५,१००	मौरीशस	६,२०,०००
इटली	५,७६१	मेक्सिको	५२०
ईराक	१३,५७०	मोरक्को	१,५४०
आयरलैंड	९५०	मुसकाट	५,५००
जमैका	२९,९५१	नीदरलैंड	५०२
जापान	११,१४१	न्यूजीलैंड	१६,१३०
जोर्डन	५३९	नाइजीरिया	१३,७००
केन्या	१,५२,३००	नार्वे	१,१३५
कुवैत	३६,०००	पनामा	१,३६१
लाओस	३,८००	फिलीपाइन्स	३,५१६
लेबनान	१,३६५	पोलैंड	५४७
पेरू	५१०	सीरिया	१,१००
क्वेटार	३,०००	तंजानिया	१,१२,०००
रुमानिया	४४९	थाईलैंड	३८,०१४
रूब्रेण्डा	५४०	ट्रिनीडाड व टोबेगो	४,८०,०००
सऊदी अरब	११,०३५	टोंगा	२४
सेगेनल	३७३	ट्रिंगा	३६
आईवरी कोस्ट	५१	ट्रांसीयल स्टेट्स	५०००
जाम्बिया	२८,६००	द्यूनीशिया	५३०
सैरा-लीओन	४२५	टर्की	६११
सिंगापुर	१,३९,०००	यूनाइटेडअरबरिपब्लिक	११,०००
सोमालिया	११,३६०	युगांडा	७६,६००
जिम्बाब्वे	१९,१००	यू०के० (इंग्लैंड)	१२,७०,०००
स्पेन	११,६००	उरुवे	९९०
सूडान	१२,५५०	यू०एस०ए० (अमरीका)	२,४२,०६२

समस्त विश्व को भारत के अजस्त अनुदान / ३९०

सेंट विनसेंट	१३,७०३	यू एस एस आर (रूस)	१,१८,०००
सूडान	१२,५५०	वेन्येजुला	१ से ५ हजार
सूरीनाम	१,९९,०००	वियतनाम	१३,०००
स्विट्जरलैंड	५,९००	यमन (उत्तर)	१,६२१
वेस्ट जर्मनी	१,४६,८१०		
युगोस्लाविया	१,९६६		

प्रवासी भारतीयों के विदेशों में पहुँचने, वहाँ बसने, पैर जमाने और उन क्षेत्रों की प्रगति में सहायता करने के खोजपूर्ण विवरण कितनी ही पुस्तकों में मिलते हैं, जिनमें से कुछ के नाम यहाँ दिए जाते हैं—बैंडेल थामस लिखित—‘हिंदुइज्म इन वेडस अमेरिका’, अनिरुद्ध गुप्ता लिखित—‘इंडियन ऐब्रॉड, एशिया एण्ड अफ्रीका’, सीनप्पा आर्य रत्नम् लिखित—‘इंडियन इन मलेशिया एण्ड सिंगापुर’—जार्ज डेल्फ लिखित—‘एशियन्स इन ईस्ट अफ्रीका’, एड्रीअन सी० मायर लिखित ‘इंडियन्स इन फीजी’, रश्म देसाई लिखित—‘इंडियन इमीग्रेण्ट्स इन ब्रिटेन’, लैम्बर्ट रिचार्ड लिखित—‘इंडियन स्टुडेंट्स ऑन एन अमरीका केम्पस’, डॉ० ब्रीजनिंग लिखित—‘सुरीनाम’, राबिन ब्रेयन्स लिखित—‘ट्रिनिडॉड एण्ड टाबेगो’, बर्टन बेनीडिक्स लिखित—‘इंडियन्स इन प्लूरल सोसाइटी’, मेंगेंटी बेपीनीज लिखित ‘इंडो कंबोडिया’ आदि पुस्तकें प्रवासी भारतीयों की स्थिति पर अच्छा प्रकाश डालती हैं।

प्रो० हेरन ने अपनी पुस्तक ‘हिस्टोरिकल रिसर्चेज’ में भारतीयों के प्रवास उत्साह का विश्लेषण करते हुए निष्कर्ष निकाला है कि ‘धर्म प्रचार एवं विश्व कल्याण’ जैसे उच्च आदर्शों के अतिरिक्त एक कारण यह भी था कि उन दिनों कृषि योग्य जितनी भूमि थी एवं निर्वाह के साधन थे, उसे देखते हुए जनसंख्या बढ़ती जाती थी। बुद्धिमान लोगों ने यह उचित समझा कि उतनी छोटी सीमा में मरते-खपते रहने की अपेक्षा क्यों न निकटवर्ती उन देशों में जाकर बसा जाए जहाँ प्राकृतिक सुविधाओं के अतिरिक्त वहाँ के निवासियों की

सेवा सहायता का प्रयोजन भी पूरा किया जा सकता है। ऐसे ही कई कारणों से विदेश प्रवास का उत्साह जागा और वह आगे बढ़ा। उन दिनों छोटे-छोटे राजाओं की पारंपरिक प्रतिस्पर्द्धा से आए दिन होने वाले युद्ध और तज्जनित अव्यवस्था भी प्रतिभाशाली लोगों को प्रवास के लिए प्रोत्साहित करने लगी थी।

‘इंडिया इन ग्रीस’ ग्रंथ के विद्वान लेखक पीकाक ने महाभारत युद्ध की प्रतिक्रियाओं पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए उसका एक परिणाम यह भी बताया है कि ‘प्रतिभाशाली व्यक्ति भारत की शांति-व्यवस्था’ में गड़बड़ी देखकर वहाँ से बाहर निकल पड़े और सुदूर देशों में जाकर उन्होंने अपनी बस्तियाँ बसाईं तथा अपनी अद्भुत प्रतिभा द्वारा वहाँ की प्रगति में असाधारण योगदान दिया। भारतवर्ष की उस युद्ध से भले ही कुछ हानि हुई हो, पर पड़ोसी देशों ने उन प्रतिभाशाली व्यक्तियों के सहारे अपनी पिछड़ी हुई परिस्थियों से त्राण पाने में उत्साहवर्द्धक लाभ उठाया। एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देशों में इन प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, शिल्प, कला, संस्कृति, धर्म, चिकित्सा, शिक्षा, समाज व्यवस्था, युद्धकला, नौकानयन, शासनतंत्र आदि की ऐसी सुखद उपलब्धियाँ प्रस्तुत कीं, वैसी वहाँ पहले कभी नहीं रही थीं।

पाश्चात्य लोगों का दृष्टिकोण भले ही यह रहा है कि भारतीयों का विदेश प्रवास आर्थिक लाभ एवं सुविधा संपादन के लिए हुआ, किंतु तथ्य इसके सर्वथा विपरीत है। भारत की स्थिति भूतकाल में हर दृष्टि से विदेशों की अपेक्षा अच्छी थी। वे इतनी कष्टकर इतनी लंबी यात्राएँ करके उन देशों में क्यों जाते जो स्वयं ही गई-गुजरी स्थिति में रह रहे थे, वहाँ जाकर कुँआ खोदना और पानी पीना ही संभव था। वास्तव में भूतकाल में विश्व सेवा का उद्देश्य लेकर ही भारतीय विश्व के कोने-कोने में गए थे।

हाँ, अँग्रेजी शासन के जमाने की बात दूसरी है। उनने अपने अधिकृत भागों को सरसब्ज बनाने के लिए भारत के श्रमिकों को

तरह-तरह के प्रलोभन देकर निर्यात किया और उनके श्रम से अपनी औपनिवेशिक संपन्नता बढ़ाई। उस श्रमिक निर्यात व्यवसाय के पृष्ठ अवश्य ही बहुत कष्टदायी हैं। उन दिनों भारतीयों का शोषण, दोहन उसी प्रकार का था जैसा कि गोरे लोग काले लोगों को पकड़कर दास बना लेते थे और उनसे अमेरिका आदि में ले जाकर पशुओं जैसा काम लेते थे। उन दिनों निस्संदेह वे श्रमिक गरीबी और अशिक्षा के कारण ही बहकाकर अन्यत्र ले जाए गए थे।

अंग्रेजों का सितारा जिन दिनों चमक रहा था, उन दिनों वे अधिकाधिक भू-भाग पर अपना कब्जा जमाते चले गए। उन दिनों ब्रिटेन संसार में पहले दर्जे की शक्ति थी। उपनिवेशों का विस्तार इतना अधिक कर लिया था, जिसमें कभी सूर्य अस्त नहीं होता था। एशिया, योरोप, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड इन सभी महाद्वीपों में अंग्रेजों का बोलबाला था। कब्जा किए क्षेत्रों को बसाने और वहाँ उत्पादन आरंभ करने के लिए श्रमिकों की आवश्यकता थी। यह श्रम शक्ति उन्हें भारत से प्राप्त करना उचित लगा, सो उन्होंने यहाँ से सुलभ वेतन में शर्तबंदी प्रतिबंधों के अंतर्गत श्रमिक प्राप्त किए और उन्हें उपनिवेशों में भेजना आरंभ कर दिया।

ब्रिटिश उपनिवेशों में जहाँ भारतीय कुलियों को बड़ी संख्या में भेजा उनमें ट्रिनिडाड, ब्रिटिश गायना, सुरीनाम, (डच गायना) जैमैका, फिजी, बारबेंडीज, लीवाडेस, मौरीशस को मुख्य माना जा सकता है। यों उन्हें अन्यान्य देशों को भी निर्यात किया गया था। वे भी या तो अंग्रेजों के पूर्ण आधिपत्य में थे या उनके गहरे स्वार्थ वहाँ जुड़े हुए थे। इन देशों में मलाया, गिलवर्ट द्वीप, हाँगकाँग, न्यूजीलैंड, स्टेट सेटिलमेण्ट्स, युगांडा, जंजीवार, सेण्ट लुशिया, ग्रनेडा, केनिया, तंजानिया, सिसलिज, वाहावान, सियरालियोन, वरवेंडीज, नाइजेरिया, होंडरास आदि का उल्लेख किया जा सकता है। थोड़ी-थोड़ी संख्या में तो अनेक देशों को गए थे। इनमें कुछ ऐसे थे जो एक देश में

पहुँचाए जाने के बाद उन देश वालों ने उनका निर्यात दूसरे देश के लिए कर दिया।

सन् १८४२ से लेकर सन् १८७० के बीच २८ वर्षों में तरह-तरह के प्रलोभन देकर निर्यात किए गए भारतीय कुलियों की संख्या इस प्रकार थी-मोरीशस को ३५१४०१, ट्रिनीडाड ४२५१९ जमैका १५१६, पश्चिमी द्वीप समूह को ७०२०, नेटाल ६४४२७, फ्रांसीसी उपनिवेशों को ३१३४६।

राजनीतिक दृष्टि से जो जिस देश का नागरिक है, उसे वहाँ का निवासी कहा जाएगा, भले ही वह या उसके पूर्वज कहीं भी रहे, जम्मे हों। विदेशों में रहने वाले भारतवासियों में से अधिकांश ने उन्हीं देशों की नागरिकता ले ली है। इसलिए राजनीतिक दृष्टि से वे अंग्रेज, अमेरिकन, फ्रांसीसी, अफ्रीकी, वर्मा आदि ही कहे जाएँगे, पर प्रवासी भारतीयों से अपना मतलब दूसरा है। जो भारतीय धर्मनुयायी हैं, जो भारतीय मूल के हैं, जो अपनी धर्मभूमि भारत को मानते हैं और भारतीय संस्कृति जिनके जीवन व्यवहार में आती है, ऐसे लोगों को सांस्कृतिक दृष्टि से हम भारतीय कहते हैं, और चूंकि वे भारत से अन्यत्र गए हैं, इस कारण उनको प्रवासी के नाम से संबोधित करते हैं। प्रवासी भारतीयों की हमारी व्याख्या उनसे भिन्न है, जो राजनीतिक क्षेत्र में की जाती है।

हमारी व्याख्या के अनुसार अन्य देशों में रहने वाले भारतीयों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है। (१) नेपाल, वर्मा, भूटान, बंगला देश, पाकिस्तान और श्रीलंका में रहने वाले हिंदू। अब खंड विभाजन की राजनीतिक परिस्थितियों ने उन्हें पृथक कर दिया है। (२) जो कभी कुली प्रथा के अंतर्गत अंग्रेजों ने अपने अथवा अपने मित्र देशों के उपनिवेश बसाने के लिए अन्य देशों में भेजे थे और वे वहीं बस गए, जैसे-मलेशिया, जमैका, अफ्रीका, सुरीनाम, ट्रिनीडाड, गायना, मौरीशस, फिजी आदि। कनाडा और कैलीफोर्निया में बसे हुए पंजाबी किसान खेती उद्योग के लिए ले

जाए गए थे, पर अब वे वहीं के निवासी बन गए हैं। (३) वे लोग जो व्यापार के उद्देश्य से वहाँ गए और अब वे वहीं बस गए हैं। इनमें कारीगर, शिल्पी नौकरी पेशा लोग भी हैं, वे थोड़ी संख्या में प्रायः संसार के हर देश में पाए जाते हैं। (४) जो हजारों वर्ष पूर्व भारत से आए थे या उसी देश में से भारतीय संस्कृति में दीक्षित हुए थे, ऐसे लोग अफगानिस्तान, इंडोनेशिया और वाली द्वीप में रहते थे।

विदेशी लेखकों ने विदेश गमन करने वाले भारतीयों पर जो केवल धन कमाने के लिए वहाँ जाने का आपेक्ष किया है, वह चिर अतीत के प्रवासियों पर लागू नहीं होता। हजारों वर्ष से भारतीय प्रतिभाएँ विश्व के कोने-कोने में जाती रहीं हैं, उनका एकमात्र प्रयोजन “वसुधैव कुटुंबकम्” की मान्यता के अनुसार सर्वत्र कल्याणकारी परिस्थितियों, प्रगति एवं समृद्धि का अभिवर्द्धन ही था।



विदेशों में भारतीयता प्रेमी संगठन

विदेशों में ऐसी अनेक संस्थाएँ हैं, जो भारतीयों और विदेशियों के बीच स्नेह-सौहार्द पैदा करने और पाश्चात्य संस्कृतियों एवं वर्गों को एक-दूसरे को समझने-निकट लाने के लिए पथ प्रशस्त करती रहती हैं। भारतीय धर्मों को विदेशों में लोकप्रिय बनाने एवं प्रवासी बंधुओं को अपनी परंपराएँ समझते रहने की दिशा में जागरूक बमाती रही हैं। भारतीय धर्म अनेक धाराओं में प्रवाहित होता है इन सभी संप्रदायों के प्रचारकर्ता उन देशों में पहुँचते हैं और अपनी मान्यताओं के अनुसार प्रचार संगठन और प्रयत्न करते रहे हैं उनके प्रभाव से कितने ही संगठन विदेशों में बने और फले-फूले हैं।

कितनी ही संस्थाएँ ऐसी हैं जो प्रवासी भारतीयों द्वारा अथवा उन देशों के अन्य निवासियों द्वारा स्थापित की गई हैं। इनका उद्देश्य भी यही रहा है कि भारतीय तत्त्वदर्शन का प्रकाश उन देशों तक पहुँचे और उस देश की जनता भी उस कल्याणकारी चिंतन के समीप आकर अधिक लाभान्वित हो सके।

अन्य देशों में चलते रहे एवं चल रहे कुछ संगठनों के नाम इस प्रकार हैं-

‘इंडियन कॉसिल ऑफ कलचरल रिलेशंस’ नामक संगठन ने विदेशों में भारतीय प्रवासियों के समुदाय की सांस्कृतिक माँगों की पूर्ति करने एवं भारतीय संस्कृति में रुचि लेने वाले विदेशियों को प्रभावित करने के लिए विभिन्न प्रकार की योजनाएँ हाथ में ली हैं। उन्होंने भारत के बारे में विदेशों में उच्च विचारधारा बनाने के लिए कई केंद्रों की स्थापना की है।

“द इंडियन कॉसिल फॉर कलचरल स्टडीज” फिजी, ईरान, लाओस, सिंगापुर, ट्रीनीडाड, रुमानिया, युगोस्लाविया आदि में स्थित

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ३१६

है। पोलैंड में भी यह संस्था काम कर रही है। इंडियन स्टडीज के तीन केंद्र-इंडोनेशिया, अफगानिस्तान और लेबनान में स्थापित किए गए हैं। ये संगठन धार्मिक एवं सांस्कृतिक हैं।

इस शताब्दी के प्रारंभ में जो संगठन सक्रिय थे, उनमें से जो वर्तमान में भी कार्यरत हैं, वे निम्नलिखित हैं—

भूतकाल में द इंडिया सोसायटी ऑफ अमेरिका, द यूनियन ऑफ ईस्ट एण्ड वेस्ट इंडिया अकेडमी ऑफ अमेरिका, ऑल वर्ल्ड गाँधी फेलोशिप, द गाँधी इन्स्टीट्यूट ऑफ अमेरिका।

वर्तमान में— यू. ए.-द फेडरेशन ऑफ इंडियन स्टूडेंट्स एसोसिएशन्स एंड द कलचरल इंटीग्रेशन फेलोशिप ऑफ सॉन फ्रांसिसको। आस्ट्रेलिया—द इंडो-आस्ट्रेलियन सोसायटीज एट मेलबोर्न, सिडनी, केनबेरा एडेलाईड व पर्थ।

वर्मा—द सनातन धर्म स्वयंसेवक संघ, आर्य समाज, ऑल वर्मा हिंदू सेंट्रल बोर्ड एंड सिख एंड जैन एसोसिएशन्स, द इंडियन म्यूजिक एंड आर्ट्स सोसायटी।

सीलोन—द सीलोन इंडियन कॉग्रेस।

मलेशिया—इंडियन एसोसिएशन (स्ट्रेट्स-सेटलमेंट्स), द नेगरी सेंबीलन इंडियन एसोसिएशन, द कोस्टल इंडियन एसोसिएशन लाँग, द इंडियन मर्चेन्ट्स चेम्बर, द चेट्टियर नट्टकोटि चेम्बर ऑफ कॉमर्स।

जापान—इंडियन क्लब, द इंडियन सोशल क्लब, द इंडियन लेडीज क्लब ये कोबे में स्थित हैं। द याकोहामा सिल्क मर्चेन्ट्स एसोसिएशन, द इंडियन स्पोर्ट्स क्लब, द पारसी क्लब। जापान इंडिया सोसायटी, टोकियो व कोबे में हैं।

बार्सीलोना व मैड्रीड—द फ्रैंड्स ऑफ इंडिया एसोसिएशन।

जेकोस्लोवाकिया व पोलैंड—द जेक इंडिया सोसायटी प्रेग, द इंडो-पोलिश फ्रेंडशिप सोसायटी।

डेनमार्क—द डेनिश इंडियन सोसायटी, क्रोपेन हेगेन।

समस्त विश्व को भारत के अजल्ल अनुदान / ३१७

पेरिस— एसोसिएशन्स ऑफ इंडियन स्टूडेंट्स।

यू. एस. एस. आर.— द इंडियन स्कालर्स एसोसिएशन मास्को, लेनिन ग्राड व कीव।

यू. ए. आर.— इंडो-यू. ए. आर. फ्रेंडशिप सोसायटी।

यूगाण्डा— द सेंट्रल कॉसिल ऑफ इंडियन एसोसिएशन, इंडसूडानीज फ्रेंडशिप एसोसिएशन खारतुम।

नाटाल— कालोनियल बॉर्न सेटलर्स-इंडियन एसोसिएशन-नाटाल इंडियन टीचर्स सोसायटी-हिंदू तमिल इन्स्टीट्यूट। इंडो-यूरोपियन कॉसिल।

यू. के.— वाय. एम. सी. ए. इंडियन स्टूडेंट्स-होस्टल्स, रॉयल एशियाटिक सोसायटी, लंदन कॉमनवेल्थ इन्स्टीट्यूट, लंदन।

फिजी— गाँधी सोसायटी, सूबा।

ब्रिटिश गायना— ईस्ट इंडियन एसोसिएशन, ईस्ट इंडियन लेडीज गिल्ड मुस्लिम लाइब्रेरी, एसोसिएशन महामंडल सभा।

सूरी नाम— माता गौरी द्रस्टा।

मारीशस— इंडियन फ्रेंडशिप सोसायटी, पोर्ट लुईस।

फिलीपाइंस— फिलीपाइंस इंडिया सोसायटी, मलाया।

ट्रिनिडाड एण्ड टोबैगो— ईस्ट इंडियन लिटरेरी लीग, पोर्ट ऑफ स्पेन-ईस्टर्न इंडियन लिटरेरी एण्ड डिबेटिंग क्लब-ट्रिनीडाड, ईस्ट इंडियन लिटरेरी लीग-यंग मेन्स मुसलिम एसोसिएशन।

जमैका— ईस्ट इंडियन एसोसिएशन।

डेमास्कस— (दमिश्क) इंडो सीरियन क्लब।

तेहरान— इंडो-ईरान कल्चरल एसोसिएशन।

इस्तंबुल व अंकारा-इंडो-टर्किश कल्चरल एसोसिएशन।

केलीफोर्निया— (अमरीका) की दो संस्थाएँ-

(१) एशियन स्टडीज के लिए केलीफोर्निया की यही एक मात्र संस्था है। जो एम. ए. पी., एच. डी. के लिए पूर्व-पश्चिम के तुलनात्मक अध्ययन एवं एशियन संस्कृति के अन्वेषण के लिए

अधिकृत है। (२) यहीं एक ग्रेजुएट स्कूल है जहाँ प्रसिद्ध एशियाई विद्वान एशियाई भाषा में पढ़ाते हैं तथा अपनी सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के अंतर्गत दर्शन शास्त्र, धर्म, समाज विज्ञान, व्यक्तित्व शास्त्र, आत्म साक्षात्कार हेतु मनो-भौतिक नियमों की व्याख्या स्वाभाविक रूप से करते हैं।

डिस्पेन्सरीज व कल्याणकारी समितियाँ—

नाटाल- बालजी हीरजी खोजा फ्री डिस्पेंसरी, इंडियन मेटर्निटी होम, सोशल सर्विस लीग, फ्री डिस्पेंसरी ऑफ मोम्बासा, इंडियन मेटर्निटी होम नैरोबी, सूरत हिंदू एसोसिएशन-इंडियन सोशल सर्विस कमेटी, आर्यन बेनीबॉलेंट होम, इंडियन चाइल्ड वेल्फेयर सोसायटी।

मंदिर एवं पूजास्थल- हिंदू धर्म सभा, हिंदू सभा, आर्य समाज सैगोन, जैन मंदिर, सिक्ख गुरुद्वारा खोजा खाना-आर्य समाज मंदिर-जामिया मस्जिद-हिंदू यूनियन टेम्पल, सनातन धर्म सभा मंदिर, नैरोबी।

‘खालसा दीवान सोसायटी’ या ‘फ्री डिवाईन कम्यूनियन’ ब्रिटिश कोलंबिया में १९०७ में वेन्कोवर में स्थापित किया गया, उसी अवधि में पेसीफिक कोस्ट खालसा दीवान सोसायटी भी स्थापित हुई।

भारतीय संस्थाओं द्वारा प्रचारकार्य—

रामकृष्ण मिशन के केंद्र, अस्पताल, पुस्तकालय, सत्संग भवन, स्कूल आदि अमेरिका के कैलीफोर्निया, सेन फ्रांसिस्को, बर्कले, सेकरेमेंटो, न्यूयार्क, अर्जेण्टाइना, व्यूनर्स आयर्स आदि स्थानों में चलते हैं। लंदन, पेरिस, जेनेवा, कोलंबो, फिजी, मौरीशस एवं जापान में भी उनके केंद्र व आश्रम हैं।

आर्य समाज की शाखाएँ श्रीलंका, अफ्रीका, गायना, द्रिनिडाड, अमेरिका, कनाडा, मलेशिया, इंडोनेशिया, बर्मा आदि में हैं।

महाबोधि सोसायटी ने बौद्ध धर्म का प्रसार कार्य पिछले १५ वर्षों से बड़े उत्साहपूर्वक किया है। जापान, रूस, कोरिया, मंगोलिया, मलेशिया, वर्मा आदि देशों में बौद्ध धर्म के लोगों से संबंध बनाना तथा उन्हें प्रोत्साहित करना इसका प्रधान कार्य रहा है।

अरविंद सोसायटी की शाखाएँ ब्राजील, कनाडा, फ्रांस, जापान, केनिया, न्यूजीलैंड, नेपाल, सिंगापुर, श्रीलंका, स्विट्जरलैंड, इंगलैंड, पश्चिमी जर्मनी, मलेशिया, जांबिया में हैं।

‘हरे राम हरे कृष्ण’ आंदोलन भी कितने ही देशों में लोकप्रिय होने लगा है। विश्व हिंदू परिषद के प्रवासी भारतीयों के कितनी ही जगह संगठन हैं। श्रीमहेश योगी, बालयोगेश्वर, संत कृपालसिंह के द्वारा कई देशों में योग प्रसार के केंद्र एवं संगठन बन गए हैं।

युग निर्माण शाखाएँ प्रायः उन सभी देशों में हैं जिनमें प्रवासी भारतीय रहते हैं। जहाँ प्रवासी भारतीय नहीं हैं, वहाँ भी उनकी स्थापना के लिए प्रयत्न चल रहे हैं।



प्रवासी भारतीयों संबंधी कुछ उपलब्ध जानकारियाँ

समुद्र पार के देशों में लगभग ५० लाख और भारत की सीमाओं से लगे हुए नेपाल, भूटान, पाकिस्तान, बंगला देश, लंका में ढाई करोड़, इस प्रकार भारत मूल के लगभग तीन करोड़ भारतीय अपने देश से बाहर रह रहे हैं। वे लगभग १२५ देशों में फैले हुए हैं।

इन प्रवासी भारतीयों की स्थिति का विधिवत सर्वेक्षण करने के लिए अब तक कोई ठोस प्रयास नहीं किया गया। इन देशों में आने-जाने वालों द्वारा अथवा पत्र-व्यवहार से जो सूचना मिलती है, उन्हीं के आधार पर यह पता चलता है कि प्रवासियों की स्थिति क्या है? उनकी सही जनसंख्या क्या है? इसका भी प्रामाणिक विवरण प्राप्त नहीं है। यहाँ बैठे हुए उपलब्ध जानकारियों के आधार पर जो पता चलता है, उसी के अनुमानित आधार पर कुछ निष्कर्ष निकालना पड़ता है। कई बार तो इन जानकारियों में काफी अंतर भी होता है। आवश्यकता इस बात की है कि जहाँ भी प्रवासी भारतीय बसे हुए हैं, वहाँ एक यात्रा की जाए और वस्तुस्थिति का सही विवरण प्राप्त किया जाए। न केवल उनकी जनगणना को, वरन् जिन परिस्थितियों में वे रह रहे हैं, उनका जानना और इन भारतपुत्रों के साथ मातृभूमि की स्नेह-शृंखला को सुदृढ़ बनाना भी आवश्यक है। वर्तमान साधनों से जो थोड़ी सी जानकारी प्रवासी भारतीयों के बारे में प्राप्त हो सकी है, उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

समस्त विश्व को भारत के अजल अनुदान / ४०१

अमेरिका—

अमेरिका के हार्वर्ड, कोलंबिया, शिकागो, विस्कोनसीन, केलीफोर्निया, पेनिंसेलवानिया विश्वविद्यालय में संस्कृत की उच्च शिक्षा का प्रबंध है। येल विश्वविद्यालय में विलियम डिवट हिवट ने संस्कृत व्याकरण की जो सुलझी हुई पाठ्य पुस्तकें लिखी हैं, वे न केवल अमेरिका में, वरन् अन्य देशों में भी बहुत लोकप्रिय हुई हैं।

सन् १९७० में अमेरिका में भारतीय डॉक्टरों की संख्या २५७५ थी। इसके बाद प्रायः ३०० के क्रम से वह संख्या हर साल बढ़ती गई। इनमें से एक तिहाई न्यूयार्क नगर के इर्दगिर्द इलाके में काम करते हैं। उनमें से कितनों को ही सरकारी अस्पताल में भी काम मिला हुआ है।

सानफ्रांसिस्को से ६० मील दूर पर स्टाकटन नगर के समीप भारतीयों की एक छोटी बस्ती है, जहाँ भारतीय मूल के पंजाबी लोग रहते हैं और कृषि करते हैं। इनका एक गुरुद्वारा भी है। बीसवीं सदी के आरंभ में, जब अमेरिका प्रवेश पर किसी देश के लिए प्रतिबंध नहीं था, उन्हीं दिनों ये लोग पंजाब से लगभग एक हजार की संख्या में गए थे और वहीं बस गए। इनमें से कृषक लोग इस बस्ती में रहते हैं और शेष अन्यान्य नगरों में अमरीकी नागरिकों की तरह विभिन्न व्यवसाय करते हैं।

पश्चिमी अमेरिका में कनाडा और कैलीफोर्निया के अंचलों में कितने ही भारतीय स्थाई रूप से बसे हुए हैं और अब वे वहीं के नागरिक बन गए हैं। इनके पूर्वज इस शताब्दी के आरंभ में कारीगरों के रूप में गए थे। पीछे उन्होंने कुछ पूँजी जमा कर ली और कृषि फार्म तथा दूसरे व्यवसाय करने लग गए। इनमें से कितने ही अब सुसंपन्न हैं।

कनाडा—

कनाडा में इन दिनों लगभग ५० हजार भारतीय रहते हैं। इनमें से अधिकांश विभिन्न कार्यों में संलग्न कर्मचारी हैं। कुछ डॉक्टरी-

वकालत आदि के पेशों में भी काम करते हैं। इस देश में केवल सुयोग्य और उपयोगी विदेशियों को ही ठोक-बजाकर प्रवेश दिया जाता है। रूस द्वारा जेकोस्लाविया पर जब १९६८ में हमला किया गया तो उस समय वहाँ के लगभग १२ हजार निवासी भागकर कनाडा पहुँचे थे। वहाँ कई गुरुद्वारे और मंदिर हैं। सिक्खों ने अपनी दाढ़ी और पगड़ी को वहाँ भी सुरक्षित रखा है।

कनाडा में अन्यान्य क्षेत्रों में फैले हुए भारतीयों में से अधिकतर डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, अध्यापक, नर्स आदि हैं। व्यवसाय बहुत ही कम लोग कर पाते हैं। नर्स महिलाएँ केरल से गई हैं। छात्र भी विभिन्न प्रकार की शिक्षाएँ प्राप्त करते हैं। अन्य देशों की अपेक्षा कनाडा में देशी-विदेशी का भेदभाव बहुत ही कम है। कनाडा में बसे भारतीयों में कितने ही असाधारण धनी भी बन गए हैं। स्व० कपूरसिंह सिद्धू ने बैंकोवर में ५ लाख डॉलर देकर 'कपूर सिद्धू संस्थान' स्थापित किया है।

ट्रिनीडाड तथा टोबोगो—

ट्रिनीडाड द्वीप दक्षिणी अमरीका के उत्तरी किनारे पर स्थित है। यह भूमध्य रेखा से १० अक्षांश उत्तर और पश्चिम देशांतर ६१ से ६२ के मध्य स्थित है। ब्रिटिश, वेस्ट इंडीज के द्वीपों में इसकी गणना दूसरे नंबर पर है, पहला बड़ा द्वीप जमैका है।

ट्रिनीडाड की राजधानी पोर्ट ऑफ स्पेन है। इस नगर की जनसंख्या सत्तर हजार है। दूसरे नगर हैं—सेन फरनेंडो, प्रिंसेज टाउन, आरीमा, कॉवा, सेंट जोसेफ, साँगरे ग्रेंड और टूनापूना। सन् १८४५ इसकी में भारतीय लोग वहाँ प्रतिबंधित मजदूरों के रूप में लाए गए थे।

ट्रिनीडाड में प्रायः ४ लाख भारतीय हैं। इनमें से अधिकांश गने की खेती में लगे हुए हैं। केनोल, विक्टोरिया और पोर्ट ऑफ स्पेन क्षेत्र में भारतीय बस्तियाँ अधिक हैं। स्त्रियों की पोशाकें अधिकतर अभी तक विशुद्ध भारतीय हैं। वे साड़ियाँ पहनती हैं, सिर पर घूँघट

निकालती हैं। नाक में नथनी, हाथ-पैर में गुदने गुदाना जैसे चिह्नों को देखकर उन्हें सहज ही भारतीय के रूप में पहचाना जा सकता है। छतों पर भारतीय ध्वजा-पताका फहराना, उन्हें बहुत प्रिय है। कार्तिकी पूर्णिमा को समुद्र स्नान के लिए वे लोग ऐसे ही जाते हैं, जैसे सोमवती अमावस्या को भारत में दिखाई पड़ता है। यहाँ के भारतीयों में अपनी संस्कृति के प्रति अगाध निष्ठा है। ये लोग भारत को अपनी धर्मभूमि और मातृभूमि मानते हैं।

ट्रिनीडाड के गाँवों और शहरों में देवी-देवताओं के अनेक मंदिर हैं। यदा-कदा हवन-पूजन भी होते हैं। पंडित-पुजारी भी बहुत हैं, पर उन्हें भी अब हिंदी बोलने की आदत नहीं रही। विधि-विधान का निर्देश अँग्रेजी भाषा में करते हैं। हाँ, मंत्र जस्तर शुद्ध-अशुद्ध संस्कृत भाषा में बोल लेते हैं। जब हवन कराना होता है तो मेज पर एक तसला जैसा लोहे का हवन कुंड रखकर बैठ जाते हैं और गोली के रूप में रखी हुई हवन सामग्री को स्वाहाकार के साथ अग्नि में डालते जाते हैं।

ट्रिनीडाड की राजधानी है—“पोर्ट ऑफ स्पेन”। यहाँ की मुख्य सड़कों के नाम भारतीय नगरों के नाम पर हैं, जैसे बंबई स्ट्रीट, मद्रास स्ट्रीट, बंगलोर स्ट्रीट, इलाहाबाद स्ट्रीट आदि।

दिवाली, होली, रक्षा-बंधन, जन्माष्टमी, शिवरात्रि जैसे त्योहार वहाँ बड़े उत्साहपूर्वक मनाए जाते हैं। गीता, रामायण का सारांश वहाँ अंग्रेजी में छपा मिलता है। हिंदी भाषा को एक प्रकार से भूल ही चुके हैं। रहन-सहन और आहार-विहार पर पूरी तरह पाश्चात्य सभ्यता की छाप है। फिर भी भारतीयता पर उन्हें गर्व है और भारतीय संस्कृति को अधिक जानने, समझने एवं अपनाने के इच्छुक हैं।

ट्रिनीडाड में हिंदू आबादी ४५ प्रतिशत और गायना में ६५ प्रतिशत है। बार्वेंडीज, ग्रेनेडा और सेंट विंसेंटको मिलाकर १०

समस्त विश्व को भारत के अजन्म अनुदान / ४०४

हजार हिंदू रहते हैं। बार्वेंडीज में मात्र २२ सिंधी परिवार हैं। ट्रिनीडाड और गायना के हिंदू हिंदी नहीं जानते। धर्म संस्कारों में मंत्र संस्कृत में बोलकर उनकी व्याख्या अंगरेजी में सुनाई जाती है। ऐसा ही कथा वार्ताओं में भी होता है।

सुरीनामा—

दक्षिण अमरीका के उत्तरी छोर पर भूमध्य रेखा के समीप सुरीनाम बना है, जो सूर्य का देश कहलाता है। यह भारत से कोई २० हजार किलोमीटर दूर है। यहाँ के मूल निवासी भी अपने को “अमर इंडियन” कहते हैं। ब्रिटिश गायना और फ्रेंच गायना के बीच में अवस्थित यह भूभाग पहले डच गायना कहलाता था। अब उसका नाम ‘सुरीनाम’ है।

इस क्षेत्र में पिछली शताब्दियों में गोरे लोगों का शासन जमता-उखड़ता रहा है। स्पेन, फ्रांस, पुर्तगाल, इंगलैंड के शासक वहाँ अधिकार रख चुके हैं। अंत में वह डच लोगों के हाथ पड़ा।

१९७२ की जनगणना में सुरीनाम की जनसंख्या ३,८४,९०३ थी। इनमें मूल निवासियों की संख्या मात्र १० प्रतिशत है, ये लोग छोटे कुटीर उद्योगों से अपनी आजीविका चलाते हैं। इस क्षेत्र में चीनी भी बसे हुए हैं, पर वे संख्या में थोड़े हैं मात्र ३ प्रतिशत। राज्य भाषा डच ३७ प्रतिशत जनता के उपयोग में आती है और ३२ प्रतिशत हिंदी भाषी हैं। शेष अन्य भाषाएँ बोलते हैं। जावा मूल के निवासी यहाँ १६ प्रतिशत हैं। सुरीनाम के भारतीय अधिकांश में उत्तर प्रदेश और बिहार से गए हुए हैं। उनकी प्रथा-परंपराएँ अभी भी अपने पूर्वजों जैसी ही हैं। ट्रिनीडाड में १०० और सुरीनाम में ६० पंडित-पुरोहित हैं। वे कथावार्ता, विवाह संस्कार आदि तो कराते हैं, पर उनका धार्मिक ज्ञान बहुत स्वल्प है।

भारत की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने सुरीनाम में हिंदी प्रचार का अच्छा काम किया है। वहाँ उसके १४९ केंद्र हैं, जिनमें ४५

हजार व्यक्ति विभिन्न परीक्षाएँ पास कर चुके हैं। देहातों में छोटी-मोटी निजी हिंदी पाठशालाएँ भी चलती हैं।

सुरीनाम में भागवत-कथा का प्रचलन है। वहाँ प्रीतिभोजों की भी धूम रहती है। दिवाली दीपदान भारत की तरह ही होता है। होली पर अबीर-गुलाल उड़ाते हैं। रामलीला का अभिनय बहुत ही सुंदर ढंग से करने वाले कलाकार वहाँ गाँव-गाँव में मौजूद हैं।

वहाँ भारतीयों की भाषा “सरनामी” है, जिसे हिंदू-मुसलमान सभी बोलते-समझते हैं। इसे हिंदी भाषा का रूपांतर कहना चाहिए। इसमें लिंग भेद नहीं होता। उस देश में जात-पाँत की मान्यता तो है, पर इसके कारण रोटी-बेटी के व्यवहार में विशेष अड़चन नहीं पड़ती। हिंदुस्तानियों में ९० हजार सनातन धर्मी, तीस हजार आर्य समाजी, तीस हजार मुसलमान और शेष में ईसाई तथा अन्य संप्रदायों के लोग हैं। हिंदुओं के ५० प्रतिशत मंदिर और मुसलमानों की २० प्रतिशत मस्जिदें यहाँ हैं। यहाँ के हाईस्कूलों में चार भाषाएँ पढ़ाई जाती हैं—डच, फ्रांसीसी, अंग्रेजी और स्पेनिश। इनमें अधिकांश छात्र स्पेनिश लेते हैं, क्योंकि सातथ (लेटिन) अमरीका में ज्यादातर स्पेनिश ही चलती है। पिछली जनगणना के अनुसार सुरीनाम में ३८ प्रतिशत लोग हिंदुस्तानी बोलने वाले थे।

गायना (दक्षिण अमेरिका) —

अब से १५० वर्ष पूर्व भारतीय श्रमिक इस क्षेत्र में अंगरेजों द्वारा पहुँचाए गए। कृषि, बागवानी, पशुपालन के क्षेत्र में काम करके इन श्रमिकों ने उस देश की संपदा बढ़ाने में भारी योगदान दिया है। चीनी और चावल उत्पादन इस देश का प्रधान उद्योग है। भारतीयों ने इसे ऊँची स्थिति तक पहुँचाने में अथक परिश्रम किया है। इस देश के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में भारतीयों का गहरा हाथ है। सरकारी उच्च पदों पर उनकी नियुक्ति हुई है। वहाँ का संविधान

भारत की नकल पर बना है। राजधानी जार्ज टाउन के राष्ट्रीय उद्यान में पं० नेहरू और महात्मा गांधी की आदमकद मूर्तियाँ प्रमुख स्थान पर स्थापित हैं। दिवाली-होली की वहाँ सरकारी छुट्टियाँ होती हैं। सनातन धर्म सभा के प्रधान श्री शेष नारायण यहाँ की विधान सभा के स्पीकर हैं।

गायना में-सुरीनाम में-वेस्ट इंडीज में भारतीयों का प्रवाह सन् १८३८ में आरंभ हुआ और १९१७ तक चलता रहा। अब इस क्षेत्र में १० लाख के करीब भारतीय हैं, जिनमें हिंदू-मुसलमान दोनों ही हैं। ठेके की शर्त के अनुसार वे पाँच वर्ष के लिए ही वहाँ गए थे, पर उनमें से अधिकांश उसी क्षेत्र में स्थाई निवासी के रूप में बस गए।

इन प्रवासियों के साथ-साथ पंडित-पुरोहित भी बड़ी संख्या में चले गए। यद्यपि वे पढ़े-लिखे तो कम थे, तो भी उन्होंने यजमान और यममानी को कायम रखा। फलतः इन लोगों में अभी भी धार्मिक मान्यताएँ मजबूती के साथ बनी हुई हैं। इन पंडितों ने न केवल कथा-वार्ता, पूजा-उपासना के कर्मकांडों का प्रचलन रखा, बरन हिंदी की रात्रि पाठशालाएँ भी चलाईं।

समय-समय पर भारत से कितने ही धर्म प्रचारक इस क्षेत्र में जाते रहे हैं और प्रवासियों की धर्म भावना को प्रोत्साहित करते रहे हैं। इस क्षेत्र की आर्थिक प्रगति में इन प्रवासी भारतीयों ने भागी योगदान दिया है। उनमें से कितने ही अच्छे व्यवसायी, बुद्धिजीवी तथा हर क्षेत्र में मूर्ढन्य प्रतिभा प्रदर्शित करने वाले लोग हैं। भारतीयों की विशेष आदत फूट का इस क्षेत्र में भी साम्राज्य है, अन्यथा इतना बड़ा समुदाय वहाँ के राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में अपना अति महत्वपूर्ण वर्चस्व रख रहा होता।

गायना में भारतीय प्रायः देहाती क्षेत्र में बसे हुए हैं। महिलाओं में हिंदुस्तानी पोशाक और जेवर अभी भी बहुत लोकप्रिय हैं।

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ४०७

ग्रामोफोन रिकार्ड, रेडियो प्रसारण एवं फिल्मों के माध्यम से उस क्षेत्र में अभी हिंदी का अच्छा प्रचलन है। मंदिर यहाँ बड़ी संख्या में बने हैं। महात्मा गांधी और राम, कृष्ण, हनुमान के चित्र यहाँ घर-घर मिलेंगे।

अब से तीन सौ वर्ष पूर्व यूरोप के विभिन्न देशों के निवासी अमेरिका को रोंदते हुए इस क्षेत्र में भी घुस पड़े थे। स्पेन, फ्रांस, इंगलैंड, पुर्तगाल विशेष रूप से और थोड़े-थोड़े अन्य योरोपीय देशवासी यहाँ पहुँचे और बस गए। इन लोगों ने उसी क्षेत्र के वनवासियों को पकड़ा और भारत जैसे अन्य देशों से श्रमिकों को मँगाया, जो अभी भी वहाँ के निवासी बनकर स्थित हैं। वहाँ के प्रवासी भारतीय इसी प्रकार पहुँचे और बसे हैं। सौ-डेढ़ सौ वर्षों से वहाँ रह रहे हैं। नर-नारियों ने योरोपीय पोशाक ग्रहण कर ली है, फिर भी स्त्रियाँ नंगे सिर दिखाई नहीं पड़ेंगी, उनके सिर पर ओढ़नी का पल्ला होगा। यद्यपि योरोपीय फ्रांक जैसी पोशाक पहनती हैं, अंगरेजी मिश्रित हिंदी इनके दैनिक बोलचाल में काम आती है। भोजन भारतीय ढंग का पकाते और खाते हैं। रामायण का प्रचलन है। पुरोहित लोग भी बसे हैं। कथा, पुराण और भजन-कीर्तन के धार्मिक समारोह होते रहते हैं।

गायना भारत से ९ हजार मील दूर है। अब उसकी जनता में भारतीय ५३ प्रतिशत हैं, ३३ प्रतिशत योरोपियन और १४ प्रतिशत में आदिवासी, अफ्रीकी, चीनी आदि हैं। यहाँ दो राजनैतिक पार्टियाँ हैं—एक “पीपुल्स नेशनल कांग्रेस” दूसरी “प्रोग्रेसिव पार्टी”。 पहली के हाथ में इन दिनों शासन सूत्र है। दूसरी विरोधी दल में है, जिसके नेता हैं भारतीय मूल के डॉ० छेदी जगन। सेना में ९५ प्रतिशत किक्यु कबीले के अफ्रीकी भे पड़े हैं। बहुमत में होते हुए भी भारतीयों को शासन में उच्च पद नहीं के बराबर प्राप्त हैं। सरकार में भारतीयों की जिस प्रकार उपेक्षा हो रही है, उससे सभी

न्यायप्रिय लोग दुखी हैं। गोरे और अफ्रीकी मिलकर शासन को अपने हाथ में लिए हुए हैं और बहुमत वाले भारतीय हर दृष्टि से शोषित-उपेक्षित किए जा रहे हैं।

गायना का समुद्र तट वाला भू-भाग ही रहने लायक है। भीतरी भाग में सघन जंगल हैं। वहाँ पर तीन बड़ी नदियाँ हैं-बरसीस, एसिकीवो और डेमटाटा। इन्हीं नदियों के किनारे लोग पानी की सुविधा देखकर बसे हैं और किनारे-किनारे आगे बढ़ते जाते हैं।

पनामा—

पनामा नहर संसार के व्यापार का महत्वपूर्ण जलमार्ग बन जाने के कारण उस क्षेत्र में भारतीयों का पहुँचना कितने ही वर्ष पूर्व आरंभ हो गया था, पर वहाँ की सरकार ने तरह-तरह से प्रतिबंध लगाकर उनको वहाँ बसने से निरुत्साह कर दिया। केवल वे ही भारतीय वहाँ रह सके, जिन्होंने अपने पास पर्याप्त पूँजी होने का प्रमाण देकर सरकार को संतुष्ट कर दिया।

अब उस क्षेत्र में लगभग एक हजार भारतीय हैं, जो कोलोन, पनामा, क्रिस्टोवल नगरों में बसे हुए हैं। उनकी छोटी-बड़ी २५ व्यापारी फर्म हैं, जो खुदरा, थोक एवं आयात-निर्यात का काम करती हैं। इन प्रवासियों का व्यवहार बहुत ही सौम्य तथा कानून पालक है। इतनी लंबी अवधि में कदाचित ही किसी भारतीय को कचहरी में उपस्थित होना पड़ा हो।

राधास्वामी संप्रदाय के हिंदुओं में अधिक धार्मिकता पाई जाती है। उनके साप्ताहिक सत्संग चलते हैं, जिनमें अन्य संप्रदायों के लोग भी उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। पनामा निवासियों के साथ भारतवासियों के बहुत अच्छे संबंध हैं। उनके साथ विवाह संबंध भी चल पड़े हैं।

ग्रेनेडा—

ग्रेनेडा में भारतीय लगभग दो सौ वर्ष से पहुँचते रहे हैं। अब उनकी संख्या ५ हजार के करीब हैं, उस पूरे क्षेत्र की आबादी एक

लाख से भी कम है। इनमें से अधिकतर किसान, व्यापारी और दुकानदार हैं। कुछ दफ्तरों में काम करने वाले भी हैं।

इस क्षेत्र में रहने वाले भारतीय “पूर्वी भारतीय” कहे जाते हैं। हिंदू-मुसलमान की पोशाक, रहन-सहन आदि का कोई भेद नहीं है। आपस में विवाह भी लोग बिना किसी सामाजिक बंधन के कर लेते हैं। हिंदुओं की अपनी धार्मिक गतिविधियाँ शिथिल हो जाने से वे प्रायः प्रोटेस्टेंट ईसाई हो गए हैं। वे कैनेडियन चर्च के सदस्य बने हैं। फिर भी उनमें भारतीय ढंग की पूजा-पत्री होती है और कुछ रीति-रिवाज पुराने ढर्रे के भी चलते हैं।

यहाँ के भारतीयों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। फिर भी जब कभी उनके पास पैसा होता है तो वे उसे प्रीतिभोज, उत्सव-आयोजन मनाने में खुले हाथों खरच कर डालते हैं, जिससे गरीब के गरीब ही बने रहते हैं।

ग्रेनेडा द्वीप ट्रिनीडाड से १०५ मील दूर है। वहाँ बारहों महीने हरियाली छाई रहती है और मौसम बड़ा सुहावना रहता है। इस द्वीप का क्षेत्रफल केवल १३३ वर्ग मील है। यहाँ भारतीयों को पहुँचाया नहीं गया, वरन् वे वहाँ जाकर स्वेच्छापूर्वक बसे हैं और उसके पूर्ण नागरिक हैं।

इंगलैंड—

सन् १९६९ की जनगणना में ब्रिटेन में २ लाख भारतीय थे। अब उनकी संख्या प्रायः छः गुनी हो गई है। इस बढ़ोत्तरी में पूर्वी युगांडा देश के खदेड़े हुए वे भारतीय भी हैं, जिन्हें ब्रिटेन ने अपना नागरिक स्वीकार करके उदारतापूर्वक स्थान दिया है। पंजाबी, बंगाली, गुजराती इनमें मुख्य हैं। यों सभी प्रांतों के लोग हैं। गोआ के ईसाइओं की भी बड़ी संख्या है। प्रवासी भारतीयों में दो-तिहाई हिंदू और एक-तिहाई मुसलमान हैं।

कोवेंट्री, मिडलैंड, साउथ हाल, वर्मिघम, ब्रेडफोर्ड, लिवरपूल, लीस्टर, ग्रेवसेंड आदि में भारतीयों की आबादी बहुत है। इनमें से

अधिकतर लोग विभिन्न क्षेत्रों में सरकारी एवं गैर सरकारी नौकरी करते हैं। कुछ छोटे-मोटे व्यवसाय चलाते हैं। कितने ही शिल्पी एवं कारीगर भी हैं। 'ओवर टाइम' के काम प्राप्त करने में उनकी अधिक दिलचस्पी रहती है, जबकि उस देश में श्रमिक सामान्य समय तक ही काम करके शेष समय को हँसने-खेलने में लगाते हैं। काम तो आसानी से मिल जाता है, पर निवास की समस्या अभी भी बहुत कठिनाइयों से भरी हुई है।

स्काटलैंड में पंजाबी भारतीय फेरी लगाकर माल बेचने में बहुत कुशल हैं। इसमें उन्होंने पैसा भी कमाया है। भारतीय पुरुष आमतौर से योरोपीय पोशाक पहनते हैं, किंतु स्त्रियों ने लंबे समय तक वहाँ रहने पर भी अपने देश की पोशाक को ही अपनाए रखा है। भोजन संबंधी आदतें भी उन परिवारों में भारत जैसी ही हैं।

इंगलैंड में कई लाख हिंदुस्तानी और पाकिस्तानी रहते हैं। बंगालियों की बड़ी संख्या है, इसके बाद पंजाबियों और गुजरातियों का नंबर आता है। पंजाबी अधिक संगठित हैं। गुजरातियों का एक अखबार 'गुजरात समाचार' भी निकलता है।

लंदन में रामकृष्ण मंदिर बंगाली संत प्रभुपाद जी द्वारा ट्रेफलगर स्क्वायर में बनाया गया है। यहाँ "हरे राम हरे कृष्ण" के कीर्तन को विशेष महत्व दिया जाता है। गौरांग संप्रदाय से उसका विशेष संबंध है। रथयात्रा समारोह यहाँ विशेष उत्साह के मनाया जाता है।

लंदन के कृष्ण मंदिरों में तीन विशेष उल्लेखनीय हैं—(१) पश्चिमोत्तर क्षेत्र में हिंदू सेंटर के संरक्षण में चलने वाला ग्राफ्टन ट्रैरेस क्षेत्र का 'सुदर्शन चक्र कृष्ण मंदिर' (२) पश्चिमी भाग में अवस्थित लीस्टर का 'राधाकृष्ण मंदिर' (३) पश्चिमोत्तर भाग में गोल्डर्स ग्रीन स्थान का 'कृष्ण मंदिर'। सनातन धर्म मंदिर में भी रविवार शाम को गीता प्रवचन, बुधवार को योगाभ्यास, मंगल

को ध्यान योग और शनिवार को सत्संग होता है। जिन्हें जिस आयोजन में अधिक रुचि होती है वे उस दिन वहाँ पहुँचते हैं। रविवार को उपस्थिति ४०० तक पहुँच जाती है। उस दिन प्रीतिभोज का क्रम भी चलता है और हवन भी होता है। इस संस्था की एक कीर्तन मंडली भी है, जो आमंत्रण पर हिंदू घरों में कीर्तन करने जाती है।

आस्ट्रेलिया—

सन् १८३७ में प्रवासी भारतीयों का एक जत्था श्रमिकों के रूप में आस्ट्रेलिया पहुँचा। इसमें अधिकांश लोग पंजाब के थे। सन् १९०० तक वे लोग उस देश की प्रगति में असाधारण योगदान देते रहे, पर १९०१ में उन्हें वापस खदेड़ने और नयों को प्रवेश न मिलने के प्रतिबंध से प्रवासी भारतीयों की संख्या कम होती चली गई।

यों अभी भी वहाँ थोड़ी संख्या में भारतीय मूल के लोग हैं और अच्छी हालत में हैं। पश्चिमी आस्ट्रेलिया में एक सिंधी व्यापारी बदूलाह का अच्छा भेड़-पालन केंद्र है। मै० बसियामल आसामल की अच्छी फर्म है, जिसकी शाखाएँ मेलबोर्न और सिडनी में भी हैं। इसी प्रकार कुछ श्रमिक, शिल्पी, कारोवारी तथा विद्यार्थी भारतीय भी वहाँ मौजूद हैं।

न्यूजीलैंड—

सन् १९१३ के बाद अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों की तरह न्यूजीलैंड में भी भारतीय जनशक्ति को भेजा गया। उन्हें बसाया भी गया और नागरिकता भी दी गई, पर गोरे और काले के बीच भेदभाव करने वाले 'इम्प्लाइज लाइबिलिटी एक्ट' 'वर्कर्स कम्पेन्सेशन एक्ट' जैसे कानून बने। जब श्रमिकों की आवश्यकता पूरी हो गई तो उन पर भी प्रतिबंध लगे और वापस भेजे गए।

जिन दिनों भारतीय श्रमिक बड़ी संख्या में उस देश में पहुँचे तो उन दिनों उनकी संख्या आकलैंड में ५७ प्रतिशत और वेलिंगटन में २२ प्रतिशत पहुँच गई थी। दक्षिण द्वीप में वे

१५ प्रतिशत थे। वापिया, हैराकी, तौमारूनी, अकीटियो, तौरंगा, मार्लवारो, ओटी रोहांग आदि में उनकी अच्छी बस्तियाँ थीं। उन्हें कृषि कार्य में, कारखानों में लगाया गया। जहाँ उन्होंने आशाजनक काम किया। अब न्यूजीलैंड में भारतीयों की संख्या ६१०० है, जिनमें व्यापारी, छात्र, इंजीनियर तथा अन्य वर्ग के लोग सम्मिलित हैं।

पूर्वी अफ्रीका—

केनिया, युगांडा और तंजानिया के तीनों क्षेत्र ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका कहलाते थे। अब इन्हें पूर्वी अफ्रीका कहते हैं। कुछ समय पहले तंजानिया और जंजीबार अलग थे, अब उन दोनों को मिलाकर तंजानिया बन गया है।

इस क्षेत्र में पाँच शताब्दी पूर्व अरब लोग पहुँचे। पीछे अंगरेज, फ्रांसीसी तथा दूसरे योरोपियन देश वाले भी पहुँचने लगे। मुसलमानों ने अफ्रीकियों के साथ विवाह करके अपनी वंश वृद्धि की। योरोपियन अपनी कुशलता और संपन्नता के कारण उस क्षेत्र के निवासियों को आकर्षित करते गए। पादरी लोगों ने इस क्षेत्र में ईसाइयत फैलाने में भी अच्छी सफलता पाई। भारतीय लोग अपनी निजी गतिविधियों तक ही सीमित रहने के कारण उस क्षेत्र में उतना प्रभाव उत्पन्न न कर सके, यद्यपि आर्थिक क्षेत्र में उन्होंने अच्छी सफलता प्राप्त की।

उस क्षेत्र में भारतीयों का विशेष प्रवेश अंगरेजों के रेलपथ बनाने वालों के रूप में हुआ था। उन दिनों ३२ हजार कुली वहाँ पहुँचे थे, जो पीछे वहीं बस गए। उन्होंने क्रमशः व्यापार, कृषि, पशुपालन, शिल्प, अध्यापन एवं सरकारी नौकरी के विभिन्न क्षेत्रों में प्रवेश किया और अपनी अच्छी स्थिति बनाई। तंजानिया में उनकी संख्या करीब १५ हजार जा पहुँची है। दार-ए-सलाम में कुछ समय पहले उनकी अच्छी तूती बोलती थी। अब से ४० वर्ष पहले उन्हें सूदखोर और वहाँ की अर्थ व्यवस्था को गड़बड़ाने

वाले बताकर लांछित किया गया। इस क्षेत्र में शिक्षा संस्थाएँ तो खुलीं, पर उन पर संप्रदाय की छाप लगने लगी। जैसे 'आगाखानी बालकशाला', 'बोहरा शाला', 'हिंदू फ्री कन्याशाला', 'इवान स्मिथ मदरसा' आदि। स्कूल, अस्पताल, अनाथालय आदि में उन लोगों ने अच्छी दिलचस्पी ली और अफ्रीकनों के साथ अधिक घनिष्ठ संबंध बनाए। इस तरह के प्रयास में हिंदू लोग पिछड़े रहे। उनकी धार्मिक गतिविधियाँ पूजा-पाठ तक, मंदिर आदि बनाने तक सीमित रहीं। धार्मिक कट्टरता बनाए रखने के कारण वे अफ्रीकी लोगों के साथ भी अधिक घुलमिल न सके। कुछ प्रभावशाली हिंदू केनिया की राजनीति में अच्छा हिस्सा लेते रहे। इनमें एम.वी. पटेल, एस. जी. अमीन जैसे कई मूर्धन्य व्यक्तियों के नाम चिरस्मरणीय रहेंगे।

पिछले दिनों उस क्षेत्र में भारतीयों की आबादी डेढ़ लाख थी, जिसमें सिख संप्रदाय के २० हजार, जैनी १२ हजार और गोआ निवासी ८ हजार भी सम्मिलित थे। पूर्वी अफ्रीका में केनिया, युगांडा, तंजानिया ये तीन बड़े देश आते हैं, पर भारतीयों की अधिक आबादी केनिया में रही है।

पूर्वी अफ्रीका में भारत के गुजराती व्यापारी १३ वीं सदी में ही जा पहुँचे थे। सन् १८४० में मुलतान सैयद ने अपनी राजधानी मूसकाट से हटाकर जंजीबार बनाई वह अपने साथ इन भारतीय व्यापारियों को भी ले गया। उस समय बंदरगाह क्षेत्र में आधी आबादी भारतीयों की थी। यह सभी कच्छ, जामनगर क्षेत्र के थे।

धीरे-धीरे पूर्वी अफ्रीका में भारतीय मुसलमान भी बढ़े। शिया संप्रदाय की एक शाखा भी वहाँ पहुँची और आगाखानी संप्रदाय के खोजा लोग भी वहाँ जा बसे। खोजा लोग अपने धर्म गुरुओं की प्रेरणा से अधिक प्रगतिशील रहे। वे अपनी कमाई का दसवाँ हिस्सा धर्म कार्यों में लगाने का नियम पालते थे, इसीलिए उनकी कितनी ही उपयोगी संस्थाएँ चलने लगीं।

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ४१४

पूर्वी अफ्रीका के भारतीयों में गुजराती भाषी हिंदू अधिक हैं। वे व्यापारिक उद्देश्य से वहाँ पहुँचे हैं। इनके बाद पंजाबियों का नंबर है। सनातन धर्मी, आर्य समाजी, स्वामी नारायण पंथी आदि संप्रदायों में वे लोग बैठे हुए हैं। उनके मंदिर एवं रीति-रिवाज भी भारत की तरह ही बैठे और बिखरे हैं।

केनिया में हीरजी बाबा की पिछले दिनों बहुत धूम थी। इनमें हरी पगड़ी वाले बाबा के कई हजार शिष्य हैं, जिनमें लोहानी, पटेल तथा अन्य गुजराती, कच्छी लोगों की संख्या ही अधिक है। भजन, कीर्तन, रामायण, कथा, प्रवचन, सत्संग आदि की उनके शिष्यों में धूम मची रहती है। केनिया, तंजानिया, युगांडा इन तीनों देशों में उनका प्रभाव है।

युगांडा में दो-तीन वर्ष पूर्व ५५ हजार भारतीय रहते थे। उनके करोड़ों रुपया मूल्य के बड़े-बड़े कारखाने तथा व्यवसाय थे। पिछली शताब्दियों में उन्होंने बड़े परिश्रम एवं मनोयोग के साथ उस देश की समृद्धि में भारी योगदान दिया था।

उस देश के उनमादी अधिनायक ईदी अमीन ने तीन महीने की अवधि में बंदूक की नोंक पर इन भारतीयों को खदेड़ कर बाहर कर दिया और उनकी संपत्ति लूट ली। ऐसी नृशंसता संसार में अन्यत्र भी की गई हो, इसका उदाहरण शायद ही कहीं मिल सकेगा। इन खदेड़े हुए भारतीयों में से हजारों को ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, अमेरिका आदि में आश्रय मिला और शेष खाली हाथों भारत लौट आए। अब उस देश में मुश्किल से ही कुछ सौ भारतीय छोटे देहातों में बचे हैं।

सन् १९४८ की अंग्रेजी रिपोर्ट के अनुसार केनिया में ९०,५००, युगांडा में ३६,३००, टंगानिका में १३१०० भारतीय थे। यह संख्या गत कुछ वर्षों की अवधि तक लगातार बढ़ती रही है। सन् १९५८ की रिपोर्ट के अनुसार केनिया में १,७५,०००, युगांडा में ७३ हजार, टंगानिका में ७२ हजार हो गई थी। ‘पूर्वी अफ्रीका रॉयल कमीशन’

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ४१५

की रिपोर्ट में भारतीयों के प्रति अफ्रीका की आर्थिक उन्नति में सहयोग देने के लिए गहरा आभार प्रकट किया गया था।
तंजानिया—

तंजानिया के प्रधान शहर दारे-ए-सलाम में सन् १९१९ में स्थापित हिंदू मंडल तंजानिया के हिंदुओं की सबसे पुरानी संस्था है। छिटपुट अन्य हिंदू संस्थाओं ने उसे अपना केंद्रीय संगठन माना है। न्यानजा स्ट्रीट पर उसका एक अच्छा अस्पताल, प्रसूति गृह एवं परिवार नियोजन केंद्र चलता है। बगमोयो स्ट्रीट पर उसने शमशान भूमि बनाई है। इसके अतिरिक्त अनेक धार्मिक, सामाजिक उपयोगी कार्य होते रहते हैं। न्यानजा स्ट्रीट स्थित उसके 'ऐसेम्बली हॉल' में समय-समय पर पर्व-त्योहार एवं सत्संग, प्रवचन होते रहते हैं। संबंधित अन्य संस्थाएँ भी अपने-अपने स्कूल, पूजा-मंदिर एवं अन्य उपयोगी सत्रवृत्तियों का संचालन करती रहती हैं।

अफ्रीका—

अफ्रीका महाद्वीप के केनिया, युगांडा, तंजानिया, इथोपिया, मलावी, जांबिया, अदन, सूडान आदि देशों में बहुत बड़ी संख्या में भारतीय सैकड़ों वर्षों से बसे हैं, पर अब युगांडा से उनके निष्कासन के बाद इन सभी देशों में उसी तरह की हलचलें मच रही हैं और भीतर ही भीतर भय, आशंका, अनिश्चितता का वातावरण बन रहा है। वे वहाँ कब तक रह सकेंगे, इस संदर्भ में उन्हें निरंतर चिंतित रहना पड़ रहा है। भविष्य में वे कहाँ जाएँ? कहाँ रहें और क्या करें? यह प्रश्न निरंतर परेशान करता रहता है। दक्षिण रोडेशिया और दक्षिण अफ्रीका में प्रकारांतर से गोरों का राज्य है। वहाँ भी कठिनाई तो बहुत हैं, पर अनिश्चितता एवं आशंका का वातावरण नहीं है।

मध्य अफ्रीका—

मध्य अफ्रीका के ये तीन देश हैं, जिनमें भारतीयों की कुछ स्थिति है—(१) मलावी (२) जांबिया (३) रोडेशिया तीनों ही स्वतंत्र हैं।

इस क्षेत्र में भारतीयों का प्रवेश अब से लगभग सौ वर्ष पूर्व प्रधानतया ब्रिटिश सेना के सैनिकों के रूप में हुआ था। उनमें अधिकांश सिक्ख थे। नौकरी से निवृत्त होकर उनमें से अधिकांश वहाँ बस गए और धीरे-धीरे उनके संबंधी भी वहाँ पहुँचने लगे। वे कृषि, व्यवसाय, शिल्प तथा शिक्षा क्षेत्रों में काम करते रहे।

मलाबी में रेल पथ बनाने और गाड़ियाँ चलाने का महत्वपूर्ण कार्य जिन एशियनों ने पूरा किया, उनमें भारतीय श्रमिकों और कारीगरों की संख्या अधिक थी। उस रेलवे ने अपने यहाँ सन् १९६६ तक भारतीयों को अधिक उपयुक्त पाया और उत्साहपूर्वक भर्ती किया।

स्वल्प कालीन प्रवास के लिए इन देशों में जाने वालों के अतिरिक्त पीढ़ियों से उसी देश में रह रहे भारतीयों की भी बड़ी संख्या है। वे योरोपियनों की तरह ही सुशिक्षित हैं। प्रतिभा में भी वे कम नहीं पड़ते। फिर भी उन्हें वह प्रोत्साहन और अवसर नहीं मिलता जो योरोपियनों को प्राप्त है। इतना होने पर भी वे संपन्न हैं, अच्छी कारीगरियों में लगे हुए हैं। इसका कारण उनकी मितव्ययिता, परिश्रमशीलता एवं बुरी आदतों से बचे रहना है। उनकी प्रत्येक पाई कठोर परिश्रम की कमाई हुई है। गोरों में शराबखोरी, व्यभिचार और विलासिता आदि फिजूलखर्चों की जो आदतें होती हैं, वे भारतीयों में नहीं के बराबर हैं।

जिम्बांबे की हिंदू सोसायटी के प्रेसीडेंट दाया भाई दो पीढ़ियों से इस देश में हैं। एशिया एसोसियेशन के प्रेसीडेंट जी इस्माइल भी उस देश के स्थाई नागरिक हैं। इन लोगों ने भारतीयों में पारस्परिक सहयोग बनाए रहने और उनके अधिकारों के लिए जागरूक रहने में यथासंभव आरंभ से ही प्रयत्न किया है।

मलाबी—

मलाबी में रहने वाले भारतीयों में से कम ने ही स्थाई नागरिकता स्वीकार की है। जो मलाबी नागरिक बन चुके हैं, उनकी संख्या

२५० से भी कम है। इसका कारण वहाँ की सरकार का भारतीयों के प्रति अनुदार नीति बरतना भी है। यों उस देश में इन दिनों १० हजार के करीब एशियाई लोग रहते हैं, जिनमें मुख्यतः भारतीय मूल के लोग ही हैं।

मलाबी में तत्काल तो भारतीयों के लिए कोई भारी संकट नहीं, पर भीतर युगांडा जैसी आग वहाँ भी सुलग रही है। वयोवृद्ध दूरदर्शी प्रेसीडेंट डॉ. बान्डा जब तक अपने पद पर हैं, तब तक भारतीयों के निष्कासन का खतरा भले ही न हो, पर परिस्थितियाँ ऐसी बन रही हैं, जिनमें देर तक उनका पैर टिकाए रहना कठिन होगा।

जाम्बिया—

‘आल जाम्बिया भजन सम्मेलन’, ‘काववे भजन सम्मेलन’, ‘लुसाका हिंदू एसोसियेशन’, ‘प्रार्थना मंडल’, ‘आर्य समाज’ आदि हिंदू संस्थाओं द्वारा जाम्बिया में भारतीयों को संगठित रखने एवं उनमें धर्म-भावनाएँ जाग्रत रखने के लिए समय-समय पर उत्सव आयोजन होते रहते हैं। ऐसे ही प्रयत्नों ने उनमें पारस्परिक घनिष्ठता उत्पन्न करने में अच्छी सफलता प्राप्त की है।

इथोपिया—

इथोपिया द्वितीय महायुद्ध से पहले इटली के अधिकार में था। महायुद्ध की अनेक प्रतिक्रियाओं में से एक इटली से आजादी प्राप्त करना भी है। उपनिवेशी जुआ को उतार फेंकने के लिए इथोपिया की जनता ने जो संघर्ष किया उसमें भारतीय सैनिकों ने भी अपना रक्त सम्मिलित किया था। भारत और इथोपिया के संबंध अच्छे हैं और कई सांस्कृतिक आदान-प्रदान समय-समय पर होते रहे हैं। एक महिला मिशन भी उस देश में भेजा गया था, जिसमें श्रीमती कमला देवी, श्रीमती अमूरस्वामी नाथन, जैसी प्रसिद्ध समाज-सेविकाएँ भी थीं।

इथोपिया में इन दिनों ६ हजार भारतीय हैं जिनमें विभिन्न विषयों की शिक्षा देने वाले शिक्षकों की संख्या अधिक है। वेतन भारत की अपेक्षा वहाँ कहीं अधिक दिया जाता है। अद्दीस अबाबा में एक जलपान गृह भी उनका है। कुछ भारतीय व्यापार कार्यों में भी संलग्न हैं।

बिरला-बंधुओं ने इथोपिया सरकार के सहयोग से उस देश में एक कपड़ा मिल खड़ी की है। उसमें १४ हजार तंकुए और ३६० ऑटोमैटिक करघे काम करते हैं। इस उत्पादन से उस देश की वस्त्र आवश्यकता का बहुत बड़ा भाग पूरा होता है।

अद्दीस अबाबा में स्थापित इंडियन एसोसिएशन की ओर से हिंदी शाला, हॉस्पीटल, लाइब्रेरी चलते हैं। इथोपिया की सार्वजनिक प्रवृत्तियों में यहाँ के भारतीय बहुत रस लेते हैं और मुक्त हस्त से सहायता करते हैं।

सोमालिया—

अफ्रीका के केनिया और इथोपिया देशों की सीमा से लगा हुआ समुद्र तटवर्ती एक देश है—सोमालिया। जिसकी आबादी ४० लाख है। भाषा सोमाली है। यहाँ के नागरिक नीग्रो नहीं, वरन् अरबों के बंशज हैं। अफ्रीकी और अरब रक्त का सम्मिश्रण उनमें स्पष्ट दिखाई पड़ता है। यह एक इसलामी राज्य है। कुरान पढ़ना शिक्षा क्रम में सम्मिलित है, इसलिए अरबी भाषा भी सोमाली के साथ ही पढ़ाई जाती है। पहले यहाँ अंगरेजों का राज्य था। सन् १९६० में पूर्ण स्वतंत्रता मिली है।

अंगरेजी शासनकाल में भारतीय वहाँ व्यापारी के रूप में पहुँचे थे। पिछले दो महायुद्धों के समय से भारतीय सैनिक तथा अन्य कर्मचारी वहाँ रहते हैं। जिनमें से बहुत से सेवा निवृत्त होने के बाद वहीं बस गए। इनके बच्चों ने उच्च शिक्षा प्राप्त की और वे महत्त्वपूर्ण पदों पर काम करने लगे। अभी भी वहाँ भारतीय व्यापारियों का व्यापार चल रहा है और सरकारी तथा दूसरे दफ्तरों

में भारतीय कर्मचारी काम करते हैं। युगांडा की तरह यहाँ भी अफ्रीकीकरण ने जोर पकड़ा है और वे धीरे-धीरे अन्यत्र खिसकने लगे हैं। भारत सरकार ने उस देश को शिक्षक, डॉक्टर, इंजीनियर, बकील, स्टेनोग्राफर आदि के रूप में सहायता दी है। उनके प्रयत्न से उस अल्प विकसित देश को प्रगति की ओर बढ़ने में बहुत सहायता मिल रही है। यहाँ भारतीयों को “हिंदी” या “बनिया” कहा जाता है।

दक्षिण अफ्रीका—

अफ्रीका यह सुविख्यात क्षेत्र गोरों के हाथ में है। भारतीय बहुत बड़ी संख्या में इस देश में बसे हुए हैं। इस क्षेत्र को समुन्नत बनाने में उनका असाधारण श्रम लगा है।

किंतु गोरों ने भारतीयों तथा वहाँ के मूल निवासी काले लोगों को दूसरे दरजे के नागरिक बना दिया है और उनके वे अधिकार छीन लिए हैं जो किसी देश में जन्मे और नागरिक बने व्यक्ति को मिलने चाहिए। अश्वेत जातियों पर उन्होंने ऐसे प्रतिबंध लगाए हैं जिससे वे उस देश के राजनैतिक सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में सदा पिछड़े हुए ही बन रहे हैं।

इस अनीति के विरुद्ध महात्मा गांधी ने उस देश में सत्याग्रह आंदोलन चलाया था। उससे थोड़ी सी स्थिति तो सुधरी पर प्रकारांतर में लगभग वैसे ही प्रतिबंध अभी भी लगे हुए हैं। गोरे-काले का भेद हर क्षेत्र में एक अभिशाप के रूप में बना हुआ है।

पिछड़ी हुई जातियों के धकेले जाने के बावजूद उस देश में भारतीय अपनी जड़ें मजबूती से जमाए हुए हैं। उनकी आजीविका भी संतोषजनक है और शिक्षा, सभ्यता की दृष्टि से भी वे अपने आर्थिक परिश्रम के कारण अच्छी स्थिति में रह रहे हैं।

नागरिक अधिकारों के हनन के संबंध में शिकायत राष्ट्र संघ तक पहुँचाई गई। भारत ने अपनी नाराजी भी व्यक्त की, पर इससे

समस्त विश्व को भारत के अजस्व अनुदान / ४२०

मदोन्मत्त गोरों का रवैया बदलने में कोई विशेष सहायता नहीं मिली है। इस देश में जगह-जगह वर्ण भेद की कटुता प्रदर्शित करने वाले बोर्ड लगे हुए हैं। 'केवल श्वेत लोगों के लिए' 'केवल योरोपियनों के लिए' के बोर्ड रेलवे स्टेशन, पोस्ट ऑफिस जैसे जन संकुल स्थानों पर लगे पाए जाते हैं।

इस रंग भेद को योरोपियन लोग भी बुरी दृष्टि से देखते हैं। आस्ट्रेलिया के हजारों गोरे इसके कारण अपने देश को यह कहते हुए वापस चले गए कि इस घृणा भरे विषैले वातावरण में वे अपने बच्चों का पालन नहीं करना चाहते।

फिजी द्वीप समूह—

फिजी द्वीप समूह दक्षिण प्रशांत महासागर में अवस्थित है। इसमें कुल मिलाकर ३६१ द्वीप हैं, जिनमें से ८० में मनुष्य रहते हैं। शेष वीरान हैं। इनका क्षेत्रफल ७४३५ वर्गमील है। इनमें दो द्वीप हैं। बीतीलेबू और नाबुआ लेबू। इनके अतिरिक्त कंदाबू और तक्यूनी भी बड़े टापू माने जा सकते हैं। राजधानी 'सूवा' नगर है जो बीतीलेबू द्वीप के दक्षिण के किनारे पर बसा है। सन् १८६६ में अंगरेज तथा दूसरे लोग इसमें आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड से आकर बसने लगे थे, पीछे सन् १८७४ में फिजी पूरी तरह अंगरेजों के हाथ में आ गया। अब वह ब्रिटिश उपनिवेश है। इस देश में गन्ना, केला और नारियल की विशेष उपज है। कपास, काफी, मक्का, तंबाकू, अरंडी, चावल की भी वहाँ उपज है। रस्सी बँटने को 'केतकी' भी यहाँ होती है। इन्हीं चीजों का निर्यात भी होता है।

यों फिजी में वहाँ के मूल निवासी भी रहते हैं, पर उनकी जीवनचर्या अस्त-व्यस्त और असंकृत होने के कारण अंगरेज जब उस देश को नए सिरे से बसाने लगे तो उन मूल निवासियों से श्रमिकों का काम न लिया जा सका। भारत से श्रमिक बुलाने पड़े। अंगरेजी राज्य भारत में भी था, इसलिए यहाँ से श्रमिकों की

भर्ती करना कुछ कठिन न पड़ा। गरीबी तो थी ही। भर्ती एजेंटों ने तरह-तरह के बहकावे देकर पर्याप्त संख्या में मजदूर उपलब्ध किए। पानी के जहाजों में भरकर वे फिजी पहुँचाए गए। लगभग ६० हजार भारतवासी वहाँ पहुँचे थे, जिनमें ६५ प्रतिशत पुरुष और ३५ प्रतिशत स्त्रियाँ थीं। उन्होंने बड़ी मुस्तैदी से उस देश को नए सिरे से बसाने और सुविकसित स्थिति तक पहुँचाने में जी-जान से प्रयत्न किया। उसी का परिणाम है कि आज यह द्वीप समूह बहुत ही सुसभ्य और समुन्नत बन चला है। बड़ी संख्या में संसार भर के पर्यटक वहाँ पहुँचते हैं और सर्वत्र बिंखरी पड़ी सुषमा को देखकर आनंद विभोर होते हैं। आज उस देश में बसे भारतीय भी अच्छी स्थिति में हैं। ये उन श्रमिकों की ही संतान हैं जो सन् १८९७ से लेकर १९१६ तक वहाँ पहुँचते रहे थे। पाँच वर्ष के शर्त बंदी के ठेके पर उन्हें वहाँ ले जाया गया था, उनमें से कुछ तो अवधि पूरी होने पर वापस लौट आए और कुछ वहीं स्थाई रूप से बस गए।

भारत से १२ हजार मील दूर साढ़े पाँच लाख की आबादी वाला यह द्वीप समूह अभी भी भारतीय संस्कृति के आलोक से जगमगाता है। यहाँ ३ लाख के लगभग भारतीय मूल के लोग रहते हैं। २ लाख उस देश के मूल निवासी तथा शेष योरोपियन, चीनी एवं दूसरे लोग हैं। चीनी तथा नारियल का यहाँ विशेष उत्पादन है। खनिजों में सोना प्रमुख है। राष्ट्रभाषा अंगरेजी है, हिंदी तथा मूल निवासियों की भाषा को भी मान्यता प्राप्त है। राजनैतिक दृष्टि से यहाँ दो पार्टीयाँ हैं। (१) एलायंस (२) नेशनल फैडरेशन। वर्तमान सरकार एलायंस पार्टी की है। इसमें तीन मंत्री भारतीय भी हैं। यदि ये भारतीय संगठित होते तो द्वीप का शासनाधिकार उन्हीं के हाथ में होता, क्योंकि वे कुल आबादी में आधी से अधिक संख्या में हैं।

फिजी में रहने वाले भारत मूल के लोग उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार, पंजाब तथा दक्षिण भारत से जाकर बसे हैं। प्रांतीय भाषाओं

को छोड़कर उन्होंने हिंदी बोलने का अभ्यास कर लिया है। यहाँ पर दो साप्ताहिक हिंदी पत्र भी निकलते हैं। फिजी का रेडियो सप्ताह में ७५ घंटे हिंदी कार्यक्रम प्रसारित करता है। “फिजी हिंदी महा परिषद्” ने भाषा प्रसार की दृष्टि से सराहनीय कार्य किया है। कला क्षेत्र में एक ‘रंगमंच’ नामक संगठन का उदय हुआ है, जिसने कितने ही सुरुचिपूर्ण सांस्कृतिक कार्यक्रम संपन्न किए हैं। रामलीलाओं के आयोजन में फिजी के मूल निवासी—“कोई बीती” भी बड़े उत्साह से भाग लेते हैं।

आर्थिक दृष्टि से प्रत्येक भारतीय संपन्न है, हिंदी उनकी आम भाषा है। राज्य भाषा अंगरेजी है। आदिवासियों में से अधिकांश ईसाई धर्म में दीक्षित हो चुके हैं। भारतीयों और आदिवासियों के बीच की सांस्कृतिक खाई को पाटने का किसी ने प्रयत्न नहीं किया।

भारतीय अनेक मत-मतांतरों में विभक्त हैं। हिंदुस्तान से प्रायः साधु, संत और धर्म प्रचारक पहुँचते रहते हैं। इन दिनों साँई बाबा, बाल योगेश्वर, आनंद मार्ग आदि के एजेंट अपना अइडा जमाते चले जाते हैं। पुराने सनातन धर्मियों का ढरा अपने ढंग से चलता रहता है। कथा-कीर्तन तक उनकी गतिविधियाँ सीमित हैं। आर्य समाजी थोड़े हैं, पर उनका कार्य मजबूत है।

फिजी निवासी भारतीयों की समस्याएँ सुलझाने तथा उन्हें समुचित प्रोत्साहन देने के लिए समय-समय पर कितने ही मूर्धन्य भारतवासी वहाँ जाते रहे हैं तथा अनेक प्रकार के प्रयत्न करते रहे हैं। उनमें श्री श्रीनिवास शास्त्री, पं० हृदयनाथ कुंजरु, श्री विष्णुदेव, डॉ० मणिलाल, अमीचंद, विद्यालंकर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सन् १९७२ में भारत की प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी भी वहाँ गई थीं। योरोपियन लोगों के रेवरेंड मैकमिलन, दीनबंधु एंडर्सन आदि के नाम ऐसे हैं,

जिन्हें फिजी निवासी भारतवासी सदा कृतज्ञतापूर्वक याद करते रहेंगे। श्रीतोताराम सनाद्वय वहाँ २१ वर्ष रहकर भारतीयों के लिए बहुत काम करते रहे थे।

सनातन धर्म सत्संग, रामायण मंडली, येलाण्ड्री नाबुआ, डिवायन लाइफ सोसायटी, सूबा आर्य प्रतिनिधि सभा, कबीर विश्व मंदिर, नसीनू आदि संस्थाओं द्वारा फिजी द्वीप में सांस्कृतिक चेतना जाग्रत रखने के लिए विविध प्रकार के सराहनीय आयोजन किए जाते रहते हैं।

जे. डब्ल्यू बर्टन ने अपनी पुस्तक "फिजी ऑफ ट्रुडे" में फिजी के आदिवासियों को भारतीयों के वंशज सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। पाषाण प्रतिमाओं का पूजन, सर्पों को पवित्र मानना, भानजे को अधिक सम्मान देना जैसी कितनी ही प्रथाएँ उनमें भारतीयों जैसी हैं। साथ ही उनकी भाषा में संस्कृत मूलक भारतीय भाषाओं के शब्दों का बाहुल्य है।

फिजी की धार्मिक सहिष्णुता देखने ही योग्य है। वहाँ कई देशों और कई धर्मों के लोग रहते हैं, पर इस भिन्नता के कारण उनकी मूल एकता में कोई अंतर नहीं आता। होली, दिवाली, ईद और बड़ा दिन सब मिल-जुलकर मनाते हैं। गिरजाघरों और मसजिदों में भी दिवाली के दिए जलते देखे जा सकते हैं। ईद, क्रिसमस, ईस्टर आदि त्योहारों पर हिंदू भी उसी उत्साह से भाग लेते हैं।

यहाँ के मूल निवासी कभी जंगली और असभ्य माने जाते थे, पर वे अब सुसंस्कृत हो चले हैं और अपने देश की उन्नति में समुचित भाग ले रहे हैं। फिजी को भारतीय, चीनी, योरोपियन तथा फिजियन सभ्यता का सुंदर संगम कहा जा सकता है। पिछले दिनों वहाँ बवांद्रा सरकार की स्थापना के बाद भारतीयों के हित सुरक्षित नहीं रहे, वे काफी संख्या में पलायन कर गए हैं।

हाँग-काँग—

हाँग-काँग का क्षेत्रफल ३९१ वर्गमील है और आबादी ३३ लाख। इनमें साढ़े बत्तीस लाख चीनी और बाकी ५० हजार में दूसरे देशों के निवासी सम्मिलित हैं। भारतीय संख्या में तो अधिक नहीं हैं, पर उनका व्यवसाय क्षेत्र पर अच्छा प्रभाव है। सिंधी, पंजाबी, गुजराती और राजस्थानी भारतीय यहाँ व्यापार कार्यों में संलग्न हैं। पुलिस में पंजाबी तथा गोरखे भी दिखाई पड़ते हैं।

चीन का समीपवर्ती हाँग-काँग जब ब्रिटिश उपनिवेश बना, तब वहाँ की जनसंख्या मात्र २४ हजार थी। उनमें ३६० भारतीय, ६०० योरोपियन और शेष स्थानीय लोग थे। अब वहाँ की आबादी प्रायः ३३ लाख है, इसमें भारतीयों की संख्या ८२०० है।

हाँग-काँग में भारतीयों ने कुछ बहुत प्रशंसनीय कार्य किए हैं। डॉ० एच.एन. मोदी ने वहाँ बहुत धन कमाया। उस धन को उन्होंने वहाँ एक मेडिकल कॉलेज बनाने में खरच कर दिया। पीछे वह कॉलेज सन् १९११ में विश्वविद्यालय का केंद्र बन गया। डॉ० मोदी का अनुकरण अन्य भारतीयों ने भी किया और उन्होंने रोग निदान केंद्र, अस्पताल, स्कूल आदि बनवाए।

हाँग-काँग में ब्रिटिश कामन वेल्थ के कितने ही प्रवासी बसे हुए हैं। उनमें भारतीयों की संख्या सबसे अधिक है। अन्यान्योंमें ५ हजार पाकिस्तानी, ३०० आस्ट्रेलिया के, २०० न्यूजीलैंड के, ३०० लंका के तथा थोड़े-थोड़े अन्य देशों के भी बसे हुए हैं।

भारतीयों में करीब एक हजार सिख हैं। १०० हिंदू पंजाबी, ३०० तामिल, २०० मलायी, २५० गुजराती और थोड़े-थोड़े बंगाली, मराठी, काश्मीरी, उत्तर प्रदेश, आंध्र, बिहार, हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक आदि के लोग हैं। पंजाबियों को सरकारी क्षेत्र में अच्छी जगह प्राप्त

हैं। उनके व्यापार में बहुत व्यवसाय आते हैं। “पंजाबी रेस्टोरेंट” “बौम्बे रेस्टोरेंट” “गोलार्ड” “ताजमहल” “एम्बेसेडर” आदि कीमती होटल इन्हीं लोगों के हैं।

सिंधी लोग १८९० में वहाँ पहुँचे थे और प्रवास वर्षों में उनकी संख्या आश्चर्यजनक रूप से बढ़ी। आज हाँग-काँग के भारतीयों में सिंधी ही सबसे अधिक हैं। कुछ वर्ष पहले उस देश के व्यापार में भारतीयों का १६ प्रतिशत आधिपत्य था। अब वह घटकर साढ़े चार प्रतिशत रह गया है। वे दूसरों की प्रतिद्वंद्विता में पिछड़ते चले जा रहे हैं।

हाँग-काँग ब्रिटेन को चीन द्वारा १९ वर्ष के पट्टे पर दिया हुआ है, जो १९१७ में समाप्त हो जाएगा। तब इस ३९१ मील के बारे में दोनों देश पुनर्विचार करेंगे और उसका भविष्य निर्धारण करेंगे। चीन के वर्तमान रुख को देखते हुए यह आशंका की जाती है कि वह शायद पट्टा आगे जारी न रहने दे अथवा शरतें कड़ी कर दे। ऐसी दशा में भारतीयों का वहाँ बने रहना कठिन हो जाएगा।

हाँग-काँग में भारतीयों में ३ संगठन हैं। वे व्यवसाय अथवा धर्म संप्रदाय के नाम पर गठित हैं। यदि देश में एकता-मेल रहा होता तो भारतीयों की संगठित शक्ति के दर्शन होते।

जापान—

भारत के अतिरिक्त संसार में केवल जापान ही एक ऐसा देश है, जिसके छात्र बहुत बड़ी संख्या में संस्कृत पढ़ते हैं। आरंभिक ज्ञान वालों की संख्या तो काफी बड़ी है। उस समय में स्थापित ‘जापानी एसोसिएशन ऑफ इंडियन एण्ड बुद्धिस्ट स्टडीज’ इन दोनों धर्मों के सार तत्त्वों को जापानी जनता तक पहुँचाने में संलग्न है। एक नई संस्था कल्चरल रिसर्चेज याकोहामा ने अपने शिक्षण क्रम में ‘इंडोलॉजी’ को सम्मिलित किया है और भारतीय दर्शन शास्त्र में जापानियों की रुचि बढ़ाई है।

फिलीपाइंस —

फिलीपाइंस द्वीप समूह में छोटे-बड़े ७०८३ द्वीप हैं। इनमें ४६६ तो ढाई वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल के ही हैं। ६६०६ मध्यम क्षेत्रफल के हैं। ९ ऐसे हैं जिनका विस्तार ढाई हजार किलोमीटर है। २ द्वीप बड़े हैं। लूजन-१ लाख ५ हजार वर्ग किलोमीटर, मिडानव-९५ हजार वर्ग किलोमीटर। समस्त द्वीप समूह का क्षेत्रफल ३ लाख ८ हजार वर्ग किलोमीटर है। आबादी प्रायः २ करोड़ २५ लाख है।

इन द्वीपों पर पिछले दिनों स्पेन, अमरीका एवं जापान का अधिकार रहा है। अब वह क्षेत्र स्वतंत्र है। ईसाई, मुसलमानों के अतिरिक्त यहाँ हिंदू धर्मानुयायी भी हैं, जिन्हें मूर्तिपूजक के नाम से संबोधित किया जाता है। भारत से संबंध बहुत दिनों तक टूटा रहने के कारण उनकी मूर्ति पूजा भारत से मिलती-जुलती होते हुए भी अपने ढंग की अनौखी ही है। रीत-रिवाज भी विचित्र है।

इंडोनेशिया —

इंडोनेशिया (हिंदेशिया) कई गणतंत्रों में विभक्त है। (१) जावा (२) सुमात्रा (३) बोर्नियो (४) सेलीवीज (५) बाली (६) मोलक्का द्वीप समूह।

(१) जावा की आबादी ५ करोड़, क्षेत्रफल १ लाख ३२ हजार वर्ग किलोमीटर है। (२) सुमात्रा की आबादी डेढ़ करोड़, क्षेत्रफल ४ लाख २५ हजार वर्ग किलोमीटर (३) बोर्नियो की आबादी ४ लाख १० हजार, क्षेत्रफल ६ लाख ८ हजार वर्ग किलोमीटर (४) सेलीवीज की आबादी ६५ लाख, क्षेत्रफल १ लाख ८८ हजार वर्ग किलोमीटर (५) बाली की आबादी २५ लाख क्षेत्रफल १० हजार ५०० वर्ग किलोमीटर (६) मोलक्का द्वीप समूह में कुछ द्वीप निर्जन कुछ बिल आबादी वाले आदिवासियों के हैं। इनमें चंदन, काली मिर्च तथा दूसरे मसाले पैदा होते हैं।

इंडोनेशिया क्षेत्र में अब से दो हजार वर्ष पूर्व भारतीयों का पदार्पण हुआ था। अब भी इस क्षेत्र में जावा और सुमात्रा क्षेत्र में भारतीयों की अच्छी संख्या विद्यमान है। इनमें दक्षिण भारत के चेटियार, मुदालियर, मद्रासी, सिंधी, सिख, गुजराती और मुसलमान लोग हैं। इस क्षेत्र में ६० प्रतिशत लोग भारतीय मूल के हैं। इन लोगों ने उसी क्षेत्र की महिलाओं से विवाह कर लिए हैं। वे एक प्रकार से स्थाई रूप में वहाँ की सभ्यता में घुल-मिल गए हैं और अपने आपको वहाँ का स्थिर नागरिक मानते हैं। भारत के प्रति उनकी श्रद्धा तो बहुत है, पर लौटकर वहाँ बसने की बात नहीं सोचते। भारतीयों और इंडोनेशियनों की सम्मिलित नसल “पेरानाकंस” कहलाती है। जिसकी संख्या दिनोंदिन तेजी से बढ़ रही है।

इस क्षेत्र के सिंधी लोग अधिक धनी हैं। अन्य प्रवासियों में कृषक, श्रमिक, गाड़ीवान, नाई, ठेकेदार, सुनार, साहूकार, व्यवसायी, सरकारी कर्मचारी आदि हैं। इस्लाम धर्म का इस क्षेत्र में अच्छा दबदबा है, पर हिंदू मुसलमानों का जैसा विद्वेष भारत में है, वैसा वहाँ नहीं है। सब लोग प्रेमपूर्वक रहते हैं। धर्म की तरह नसल झंझट भी वहाँ नहीं है। उस क्षेत्र में “इंडियन एसोसिएशन ऑफ जकातो” भारतीयों की प्रभावशाली संस्था है।

देहाती क्षेत्र में कितने ही मंदिर हैं। ब्राह्मणों की बस्तियाँ ‘पेडजेंग कत्लानी’ में हैं जो इस क्षेत्र में ४० के लगभग हैं। ३० बेदूलू हैं, उन्हें अन्यान्य भारतीयों की सम्मिलित बस्तियाँ तथा मंदिर क्षेत्र कह सकते हैं।

इंडोनेशिया की “हिंदू धर्म परिषद” की ओर से एक “हिंदू धर्म” सामाजिक पत्रिका भी प्रकाशित होती है। वहाँ की “हिंदू सहायता समिति” एक पाठशाला चलाती है, जिसमें हिंदी, संस्कृत तथा हिंदू धर्म की आवश्यक जानकारियों की शिक्षा दी जाती है।

हिंद चीन—

इंडो चायना (हिंद चीन) द्वितीय महायुद्ध से पूर्व फ्रांसीसी साम्राज्य का उपनिवेश था। उसमें पाँच प्रदेश थे। (१) कंबोडिया (२) लाओस (३) कोचीन (४) अनाम (५) टोंगकिंग। द्वितीय महायुद्ध के बाद इन्हें संगठित किया गया, जिससे वे तीन ही रह गए। (१) कंबोडिया (२) लाओस (३) कोचीन अनाम तथा टोंगकिंग का नाम 'वियतनाम' रखा गया।

कंबोडिया की आबादी ५५ लाख और क्षेत्रफल १ लाख ७५ हजार वर्ग किलोमीटर है। लाओस की आबादी २ लाख और क्षेत्रफल २ लाख ३७ हजार वर्ग किलोमीटर है।

वियतनाम अब उत्तर वियतनाम (साम्यवादी), दक्षिण वियतनाम (प्रजातंत्रीय) दो भागों में विभक्त है।

थाईलैंड—

पूर्वकाल का स्याम अब सन् १९३९ में थाईलैंड बन गया है। सादगी से बने बौद्ध मंदिर वागोड़ा कहलाते हैं और शानदार हिंदू मंदिर 'बाट' कहलाते हैं। वे पशु मांस नहीं खाते, परंतु मछली को प्रायः सभी खाते हैं, क्योंकि मछली पानी से निकलने पर स्वतः मर जाती है, किसी को मारनी नहीं पड़ती। इस तर्क के अनुसार वे मछली खाने में हिंसा नहीं मानते।

वर्तमान शताब्दी में स्वामी सत्यानंद पुरी थाईलैंड जाकर बसे थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति का थाई देश में प्रसार करने के लिए बैंकों में "थाई भारत संस्कृति आश्रम" की स्थापना की। चूलालों खोन विश्व विद्यालय में उन्हें संस्कृत अध्यापन का भी कार्य मिला। स्वामी जी उस देश की जनता में बहुत लोकप्रिय थे। उन्होंने कई ग्रंथ लिखे।

थाईलैंड में अधिकांश भारतीय दक्षिण भारत के हैं। उनकी संख्या २० हजार के लगभग है। वस्त्र व्यवसाय इनका प्रधान धंधा है। मद्रास के बैंक "इंडियन ओवरसीज बैंक" की एक शाखा यहाँ है।

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ४२९

कंबोडिया—

कंबोडिया के भारतीयों में अधिकांश सिंधी हैं। इसके बाद उत्तर भारत के लोगों का नंबर आता है। बैंकोक नगर में भारतीय अधिक हैं। उनका व्यवसाय वस्त्र विक्रय है। वे उस देश में अन्यत्र भी बसे हैं और अन्यान्य व्यवसाय भी करते हैं।

वियतनाम—

वियतनाम में भारतीयों की संख्या आठ हजार है। ये मुख्यतः सैगोन में घनीभूत हैं। वे हिंदू बौद्ध और मुसलमान धर्मानुयायी हैं। इनमें से ५ हजार ऐसे होंगे, जिनमें वियतनामी रक्त का मिश्रण है। भारतीयों ने उस देश में मूल निवासियों के साथ अपने विवाह संबंध का मार्ग आरंभ से ही खुला रखा है। सैगोन एवं कोलोन में दो मस्जिदें, दो गुरुद्वारे तथा हिंदू मंदिर हैं। एक देवी मरिअम्मा का है। ईसाई धर्म की पूज्य मरियम का हिंदू धर्म के साथ यह अद्भुत तालमेल है।

यहाँ के अधिकांश भारतीय कपड़े का खुदरा तथा थोक व्यापार करते हैं। कितनों की अन्य बड़ी दुकानें हैं। कई बड़े जमीदार हैं। व्यापारी प्रकृति होने के कारण वे छोटे-बड़े व्यवसायों में लगे हुए हैं। कितनी ही लाभदायक एजेंसियाँ वे लोग चलाते हैं। भारत के मूल वियतनामियों को यह शिकायत नहीं है कि नसल के आधार पर सरकार अथवा जनता किसी प्रकार का धेदभाव करती है।

बाली—

पिछले दिनों भारतीय सभ्यता का केंद्र इंडोनेशिया से हटकर बाली द्वीप में आ गया। इस देश में हिंदू और बौद्ध धर्म का सराहनीय समन्वय हुआ है। यह छोटा सा द्वीप हजारों मंदिरों से पटा पड़ा है। इनमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, दुर्गा, राम आदि की मूर्तियों का बाहुल्य है। बौद्ध प्रतिमाएँ उसी सम्मान से पूजी जाती हैं। बौद्ध लोग हिंदू देवताओं की भी उपासना करते हैं। इस देश के भारतीयों में

अभी भी चार वर्णों का प्रचलन है, पर उसमें ऊँच-नीच और कट्टरता का नाम नहीं है। कोई भी वर्ण किसी भी व्यवसाय को बिना किसी भेदभाव के कर सकता है।

मलेशिया—

सन् १९३१ के सर्वेक्षण में मलेशिया का व्यापार १० प्रतिशत भारतीयों के हाथ में था। कृषि, वनविभाग, मत्स्योद्योग जैसे कार्य तो ५३ प्रतिशत उन्हीं के हाथ में थे। उस देश की कुल संख्या में वे ११ प्रतिशत थे। इसमें हिंदू और मुसलमान धर्मावलंबी दोनों ही सम्मिलित हैं। द्वितीय महायुद्ध के बाद मलाया में भी विदेशियों को बाहर निकालने की मुहिम चली, तदनुसार अस्थाई नागरिकता वाले भारतीयों को भी वहाँ से वापस लौटना पड़ा। सन् १९५० तक उनका जो वर्चस्व था उसमें अब काफी कमी आ गई है। चीनियों को जो सुविधाएँ वहाँ हैं वे भारतीयों को नहीं हैं। अस्तु, उनकी स्थिति कमजोर होती चली जा रही है।

मलेशिया में अभी भी साढ़े नौ लाख भारतीय मूल के लोग बसे हुए हैं। उनकी संख्या ९ प्रतिशत है। इनमें से आधे सरकारी अथवा गैर सरकारी नौकरी करते हैं। एक तिहाई व्यापारी हैं। कुछ लोग श्रमजीवी, शिल्पी, वकील, डॉक्टर आदि हैं।

मलेशिया के निवासियों में तीन घटक हैं। (१) उस क्षेत्र के मूल निवासी (२) चीनी मूल के (३) भारतीय मूल के भारतीयों में अधिकांश दक्षिणी भारत के तमिल भाषी हैं। इनमें कुछ लोग पंजाब, राजस्थान, महाराष्ट्र, बंगाल आदि प्रांतों से पहुँचे हुए भी हैं। रेलवे, पुलिस, सुरक्षा विभाग आदि में वे सरकारी, गैर सरकारी नौकरियों में भी लगे हुए पाए जाएँगे।

सिंगापुर की प्रत्यक्ष उन्नति में और पेनांग की अप्रत्यक्ष उन्नति में जिन भारतीयों का प्रमुख हाथ रहा है, उनमें सिंधी, मारवाड़ी, गुजराती और बिहारी मुख्य थे।

सिंगापुर विश्व के विस्तृत बंदरगाहों में से एक है। इन दिनों सिंगापुर की आबादी २५ लाख है, जिनमें २ लाख भारतीय हैं।
अफगानिस्तान—

कहा जाता है कि अफगानिस्तान आर्यों का मूल उद्गम स्थान है, पर पिछले दिनों इस्लाम का दबदबा वहाँ रहने से अब इस बात के प्रमाण ढूँढ़ सकना कठिन है कि क्या यही आर्यों का मूल उद्गम स्थान था। इतने पर भी वहाँ हिंदू धर्म के अवशेष एवं प्रमाण बहुत हैं। काबुल का विशाल माता मंदिर तब का बना है जब उस देश में इस्लाम का प्रसार नहीं हुआ था। ठाकुर जी का मंदिर आसामीय के मंदिर भी ऐसे ही हैं। शिव मंदिर नगर के बीचोंबीच है। कई गुरुद्वारे हैं जिनके साथ धार्मिक स्थल जुड़े हैं। जलालाबाद और कंधार का शिव मंदिर, गजनी के समीप दुर्गा मंदिर बहुत विख्यात हैं। इनमें हिंदू ही नहीं मुसलमान भी दर्शन करने आते हैं।

लोहगार का झरना जिसे 'बड़ गंगा' कहते हैं। हिंदू धर्मानुयाइयों के लिए भारत की गंगा की तरह पवित्र है। यहाँ पर्वों पर स्नान करने के लिए बहुत सारी भीड़ें एकत्रित होती हैं। जटा शंकर, शेर भवानी, गुप्त गंगा अन्य ऐसे कई स्थान हैं जो तीर्थों की तरह प्रयुक्त होते हैं। शिवाकी, बुद्धघाट, लोंगर, शंकर दर्ता आदि स्थान प्राचीन हिंदू संस्कृति से संबंधित हैं। हृद्धा और गजनी की खुदाई से कई शिव मंदिरों और बौद्ध मंदिरों के खंडहर मिले हैं।

वैशाखी, दिवाली, शिवरात्रि, वसंत पंचमी, कृष्ण जन्माष्टमी, हिंदुओं द्वारा मनाई जाती हैं। गुरुद्वारे में गुरु नानक तथा अन्य गुरुओं की जयंतियाँ मनाई जाती हैं। वर्ष में एक बार बादशाह का चाचा इन उत्सवों में भाग लेने के लिए आते हैं, हिंदुओं की ओर से उनका स्वागत किया जाता है।

अफगानिस्तान में हिंदुओं की परिवारिक तथा सामाजिक स्थिति भारत जैसी ही है। वे संयुक्त परिवार पद्धति का पालन करते हैं।

तलाक उनमें नहीं है। धार्मिक रीति-रिवाजों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक कट्टर हैं। शिक्षा की सुविधाएँ होते हुए भी देहाती क्षेत्र में बिखरे हुए हिंदू उसमें कम ही रुचि लेते हैं। खेती, बागवानी, व्यापार, कारखाने वे चलाते हैं। धनियों की संख्या कम है। जो हैं उन्होंने धन कारखानों में लगा रखा है। अमीरों जैसी सुविधा भोगने वाले हिंदू कम ही हैं।

सरकार द्वारा भारत से बुलाए गए डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर तथा प्रशासनिक अधिकारी वहाँ पहुँचते हैं और बड़े नगरों में रहते हैं। वहाँ की लोकसभा में एक हिंदू सदस्य भी है। सन् १९६३ में काबुल में अफगान 'हिंदू सहायता समिति' की स्थापना हुई थी। जिसके द्वारा हिंदू धर्म की सांस्कृतिक जानकारियाँ देने तथा कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। उसने एक "असीमियाई स्कूल" भी खोला है, जिसमें हिंदी पढ़ाने तथा धार्मिक शिक्षा देने की व्यवस्था है।

अफगानिस्तान में इन दिनों हिंदुओं की संख्या लगभग २५ हजार है। वे विशेषतया बड़े नगरों में रहते हैं। काबुल, कंधार, जलालाबाद, गजनी, खानाबाद, कुंदूज, तालुकान, लगमान और सुलतानपुर में उनकी अच्छी बस्तियाँ हैं।

शिक्षा की दृष्टि से अफगानिस्तान के भारतीय बहुत पिछड़े हुए हैं। हाईस्कूल पास कर लिया तो बहुत, ग्रेजुएट तो बहुत ही कम हैं। जो हैं वे भी किसी बुद्धिजीवी क्षेत्र में जाने की अपेक्षा अपने पैतृक व्यवसाय में ही संलग्न हैं। लड़कियों में तो हाईस्कूल पास उंगलियों पर गिनने जितनी ही मिलेगी।

अफगानिस्तान और ईरान धर्म से मुसलमान हैं, पर उनकी नसल अरब नहीं आर्य है। इतिहासकारों ने इन्हें आर्यन देश लिखा है। अफगानों का दावा है कि वेदों का उदय उन्हीं के देश में हुआ था। ईरान के शाह के नाम के साथ जो पदवियाँ जुड़ी हुई हैं, उनमें एक आर्य-मिहिर भी है, उसका अर्थ होता है आर्य वंश के सूर्य।

ईराक के कुर्द जाति के लोग अपने आप को भारतीयों का सजातीय मानते हैं।

अफगानिस्तान की राजधानी काबुल में पीर रत्ननाथजी की दरगाह को नया रूप दिया जा रहा है। उसमें एक विशाल सत्संग भवन, शिवालय, रामायण कक्ष बनाने का प्रयत्न चल रहा है। अब से ५५० वर्ष पूर्व भारत के एक संत रत्ननाथजी उस देश में धर्म प्रचार के लिए गए थे। उन्होंने एक मंदिर बनवाया था, उसी को दरगाह कहते थे। उस देश के हिंदुओं में इन पीर (संत) के प्रति बहुत आस्था है। उनके पुराने स्थान को नया रूप दिया जा रहा है। इसी प्रकार आसामी के मंदिर में, जहाँ कृष्ण जन्माष्टमी का मेला भरता है, अब एक कृष्ण मंदिर बनाने की योजना है।

कुवैत—

कुवैत में गुजराती, समाज, इंडियन आर्ट सर्किल, गीता सोसायटी, तमिल संघम आदि संस्थाओं द्वारा भारतीय परंपरा से संबंधित नाटक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम एवं प्रवचनों का आयोजन होता रहता है। सालमियाह में एक हिंदुस्तानी स्कूल है। उसकी शाखा फाहाहाल गाँव में भी है। इनमें भारतीय छात्रों के भारत में चलने वाले पाठ्यक्रम के अनुसार बच्चों की शिक्षा देने की व्यवस्था है।

कुवैत में १२ हजार के करीब भारतीय हैं। इनमें मुख्यतः केरल तथा गोआ के हैं। गुजराती व्यापार करते हैं, सिक्खों की संख्या भी २०० के करीब है। दक्षिण के लोग सरकारी-गैरसरकारी नौकरियों में हैं। कुछ अच्छे भारतीय डॉक्टर भी हैं। इनमें से डॉ० प्रीतमसिंह साहनी ने अच्छा नाम कमाया है। व्यापारियों में उत्तमचंद कोहली, नारायण सव्वरवाल, एस. एस. शर्मा और सेठी ब्रादर्स के नाम अग्रणी हैं। कुवैत निवासियों के साथ मिलकर व्यापार कर सकने के कानून के कारण भारतीय व्यापारियों को भी साझेदारी में ही काम करना पड़ता है।

कुवैत में नागरिकता प्राप्त करना किसी विदेशी के लिए प्रायः असंभव है। अरब देशों का व्यक्ति १५ वर्ष और अन्य देशों का ३० वर्ष तक लगातार वहाँ रहने के बाद ही नागरिक बनने की अर्जी दे सकता है। इस प्रतिबंध के कारण एक भी भारतीय वहाँ का नागरिक नहीं है। सबसे पुराने निवासी रिटायर्ड सूबेदार मेजर गुरुमुख सिंह सेठी हैं, पर वे भी नागरिक नहीं हैं। नियत अवधि पूरी करके भारतीयों को वहाँ से वापस लौटना पड़ता है। दीपावली उत्सव सभी भारतीय मिल-जुलकर मनाते हैं।

हिंदुस्तान से कोई तीन हजार किलोमीटर दूर 'कुवैत' की आबादी पौने दो लाख है। लेकिन वार्षिक सरकारी वजट ९० करोड़ रुपया है। इस देश को तेल से इतनी आमदनी है कि एक वर्ष की कमाई दस वर्ष का सरकारी खरच चला सकती है। यहाँ अनाज, सब्जी, दूध, चीनी, कपड़े जैसी दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ भी पैदा नहीं होतीं। प्रायः हर चीज बाहर से मँगानी पड़ती है। सऊदी अरब के पूर्वी किनारे पर यह शेख शासित एक छोटा सा राज्य है, जो सोना उगलता है। यों अभी वहाँ रेल, ट्राम नहर, तालाब, कुएँ, बगीचे आदि नहीं हैं, फिर भी समुद्री घाट और हवाई अडडे का विस्तार हो रहा है। बिजली और टेलीफोन की घर-घर सुविधा है।

हेजाज—

हज करने वाले यात्रियों में से बहुत से यहाँ बस गए हैं। वह कोई कार्य व्यवसाय नहीं करते। प्रायः संचित पूँजी से ही गुजारा करते हैं अथवा धर्मस्थानों से ही भोजन पाते हैं। इनमें अधिकांश वृद्ध मुसलमान होते हैं। पिछले दिनों उनकी संख्या ४ हजार थी।

जिद्दा में ३०० भारतीय हैं। वे छोटी-मोटी दुकानदारी करते हैं। कुछ कलर्क भी हैं। मदीना में कुछ मुसलमान भारतीय व्यापारी हैं।

मस्कत में ४५०० भारतीय हैं, कुछ व्यापारी, कुछ सरकारी नौकरियों में और कुछ डॉक्टर, नर्स हैं। यहाँ के भारतीय अपनी ईमानदारी, सचाई और भलमनसाहत के लिए प्रसिद्ध हैं। उनकी प्रामाणिकता पर कोई अविश्वास नहीं करता।

ईराक—

ईराक में करीब २०० भारतीय परिवार रहते हैं, जो बगदाद, बसरा, मोसल, सुलेमानियाँ में बसे हुए हैं। वहाँ की सरकार ने बहुत से शिक्षक वहाँ बुलाए हैं। बगदाद में भारतीयों के दर्जनों धोबी गृह हैं। यह लौँड्रियाँ प्रतिष्ठा प्राप्त हैं तथा संचालकों को अच्छी आजीविका देती हैं।

बगदाद का इंडियन एसोसिएशन अक्सर प्रीतिभोजों, पिकनिकों तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन करता रहता है।

बगदाद में एक सिख गुरुद्वारा है, जिसके बारे में कहा जाता है कि सन् १५२० में गुरु नानक वहाँ पहुँचे थे और सूफी संत वहलोल से सत्संग किया था। उसी घटना की स्मृति में यह गुरुद्वारा बना है। गुरुद्वारे पर इसी विवरण का एक शिला-लेख लगा हुआ है।

बेहरीन—

बेहरीन की तेल कंपनी में कितने ही भारतीय काम करते हैं। टेक्नीशियन, एकाउंटेंट, डॉक्टर, नर्सें यहाँ प्रायः भारत के केरल प्रांत से आए हैं। सिंधी तथा गुजरातियों का व्यापार है। सरकारी कानून यह है कि कोई विदेशी यहाँ केवल स्थानीय नागरिकों की साझेदारी में ही कोई व्यापार कर सकता है। भारतीयों का समस्त व्यापार यहाँ भागीदारी के नियमानुसार ही चलता है। वैसे कितने ही ठेकेदार-कारीगर, श्रमिक अपना काम स्वतंत्र रूप से भी करते हैं। यहाँ एक भारतीय स्कूल है जिसमें अंगरेजी तथा हिंदी के माध्यम से आठवें दरजे तक की शिक्षा दी जाती है। स्कूल का नाम है—“इंडियन सेंट्रल बोर्ड ऑफ स्कूल”।

बेहरीन में भारतीयों के कई संगठन हैं—इंडियन एसोसिएशन, केरल समाजम्, तमिल संघम्, भारतीय मित्र मंडल, कर्नाटक क्लब, यंग गोअन्स क्लब, बेहरीन स्पोर्ट्स क्लब। यहाँ के चार सिनेमाघरों में हिंदी फ़िल्में दिखाने का भी प्रबंध है। हिंदुओं का एक मंदिर भी है। दिवाली, पोंगल, ओणम् पर्व बड़ी सजाधज के साथ मानाए जाते हैं। सन् ७२ से यहाँ गीता यज्ञ के नाम से एक सत्संग कार्यक्रम प्रारंभ हुआ है। एक लायब्रेरी तथा बाल विहार भी खुला है।

बार्वन—

ऐड्रीयज, मौरीशस, मैस्केरीन के मध्यवर्ती फ्रांसीसी द्वीप 'बार्वन में सन् १८३० में चार भारतीय मजदूरों का एक दल पहुँचा था। उसमें पीछे एक लौटा और तीन वहाँ बस गए। इनके वंशज तथा संबंधी बढ़कर अब बड़ी संख्या में वहाँ हो गए हैं। उनका अच्छा व्यापार अब वहाँ है।'

बर्मा—

बर्मा की नसल की संस्कृति को देखते हुए नृतत्व विज्ञानी उसे इंडो चाइनीज समन्वय कहते हैं। मंगोल नसल उस क्षेत्र के मूल निवासियों की जलवायु के प्रभाव से रही है। पीछे वहाँ भारतीय जन प्रवाह अपनी महान संस्कृति एवं अन्यान्य उपलब्धियों को लेकर जा पहुँचा। उस संगम का परिणाम उस रूप में सामने आया जिसे वर्तमान बर्मा कहते हैं।

रूसी साहित्यकार नीतिकीव के अनुसार बर्मा और पेगू को उन भारतीयों द्वारा सुव्यवस्थित रूप से बसाया गया जो धर्म प्रसार एवं समृद्धि संवर्द्धन की दृष्टि से उस क्षेत्र में गए थे।

जिन दिनों अँगरेज बर्मा में थे उन दिनों भारतीयों की संख्या उस देश में बहुत अधिक हो गई थी। बर्मा और भारतीय मिल-जुलकर उस क्षेत्र की सर्वतोमुखी प्रगति में लगे हुए थे। इन दिनों रंगून भारतीय बहुल नगर था। सन् १९४१ में उस देश में ११ लाख भारतीय थे, जिनमें ३ लाख तो अकेले रंगून में ही रहते थे। बर्मा

और भारतीय रक्त का सम्मिश्रण निरंतर होता रहा। इससे किसी प्रकार की कोई समस्या उत्पन्न नहीं हुई।

सन् १९४२ में जापान ने बर्मा पर आक्रमण किया, तब करीब ४ लाख भारतीय वापस लौट आए। जब उग्रपंथी सरकार बनी तो उसने भारतीयों को खदेड़ने की नीति अपनाई। फलस्वरूप बहुत बड़ी संख्या में उन्हें अपनी संपत्ति और व्यापार छोड़कर लौटना पड़ा। जो स्थाई नागरिक बन गए हैं, वे तो वहाँ रह रहे हैं, किंतु अस्थाई नागरिकों की संख्या अब वहाँ नगण्य ही रह गई है।

बर्मा के विकास में भारतवासियों ने आरंभ से ही महत्वपूर्ण योगदान दिया है। रंगून यूनिवर्सिटी बनाने में ५० लाख रुपया लगा है, जिसमें आधे से अधिक पैसा भारत मूल के लोगों ने दिया है। कामर्स विभाग की पीठिका-पुस्तकालय विशुद्ध रूप से उन्हीं के धन से बना है। कितने ही अस्पताल, स्कूल उन्होंने बनवाए और चलाए। रामकृष्ण परमहंस अस्पताल का रंगून में अभी भी एक साधन संपन्न चिकित्सालय है।

सन् १९५० में सनातन धर्म स्वयंसेवक संघ नामक एक संस्था स्थापित हुई, जो बर्मा तथा भारतीय नागरिकों के बीच स्नेह सौजन्य एवं सहयोग उत्पन्न करने के लिए तरह-तरह के प्रयास एवं आयोजन करती रहती है। इनके में उसका एक अनाथालय और एक बाल अनाथालय और एक बाल सेवाश्रम भी चलता है।

मारवाड़ी, गुजराती, बंगाली एवं मद्रासी लोगों द्वारा बनवाए हुए उनकी धार्मिक मान्यताओं के अनुरूप बर्मा में हजारों हिंदू मंदिर हैं। बौद्ध विहार तो उस देश में फैले ही पड़े हैं। बर्मा में हिंदुओं का एक केंद्रीय संगठन है, “आल बर्मा हिंदू सेंट्रल बोर्ड” जिसकी लगभग सभी हिंदू संस्थाएँ सदस्य हैं। बर्मा सरकार उसे २५ हजार क्येट्स वार्षिक अनुदान देती है। कार्यकर्ताओं को रेल-स्टीमर आदि के निःशुल्क पास भी मिलते हैं। संगठन ने रामायण, महाभारत, गीता

आदि ग्रंथों को बर्मा भाषा में छापा है। राजा रेडिडयार के बनाए मंदिर तथा स्कूल रंगून में अभी भी गर्वोन्नत मस्तक उठाए खड़े हैं। अजायबघर बनाने में डॉ० सेन का असाधारण योगदान रहा है।

रामकृष्ण मिशन ने बर्मा में बहुत काम किया है। उसका १२२ पलांगों का अस्पताल, अच्छा पुस्तकालय और विशाल प्रवचन हॉल देखने ही योग्य है।

श्रीलंका—

श्रीलंका यों एक प्रकार से भारत का ही अंग है। पाकिस्तान की तरह कुछ समय पूर्व ही वह अलग हुआ है। आज के दृष्टिकोण से यदि लंका मूल के और भारत मूल के निवासियों का वर्गीकरण किया जाए तो कहना पड़ेगा कि तमिलनाडु आंध्र प्रदेश के निवासियों की वहाँ बहुत संख्या है। मदुरा, त्रिचनापल्ली, तेन्जोर, सलेम, कोयम्बटूर, टिनावली, रामनाड आदि जिलों के निवासियों का लंका प्रवासियों में बाहुल्य है। यह लोग छोटे-बड़े व्यवसायी, शिक्षा-जीवी, शिल्पी एवं श्रमिक स्तर के कार्यों में वहाँ संलग्न हैं। चाय बागान और नारियल उद्योग में भी उनका महत्वपूर्ण हाथ रहा है।

सन् ३० तक लंकावासियों और भारतीयों में पूर्ण स्नेह सौजन्य था। इसके बाद प्रथकता हो जाने पर देशी-विदेशी का विष वृक्ष वहाँ भी पनपा फलतः लंका में भी भारतीयों के प्रति विद्वेष विकसित होने लगा। बहुत से भारतीयों को वापस लौटना पड़ा।

अब बहुत बड़ी संख्या में भारतीयों को लंका सरकार ने वापस भेज दिया है। जिन्होंने उस देश की स्थाई नागरिकता स्वीकार कर ली है, वे ही वहाँ बचे हैं। अस्थाई निवास करने वालों की संख्या बहुत कम है।

नेपाल—

नेपाल में ८७ प्रतिशत हिंदू, ९ प्रतिशत बौद्ध, ३ प्रतिशत मुसलमान और १ प्रतिशत ईसाई धर्मावलंबी रहते हैं।

समस्त विश्व को भारत के अजन्म अनुदान / ४३९

नेपाल की जनता अधिकतर भारतीय मूल की है। मंगोलियन नस्ल के पुरखे भी वस्तुतः धर्म और रक्त की दृष्टि से भारतीय ही कहे जा सकते हैं। उस देश का ९० प्रतिशत व्यापार भारत के ही साथ है। कुछ समय पूर्व तक भारत और नेपाल के मध्य उन्मुक्त व्यापार था। प्रांतों में जिस प्रकार चुंगी आदि के थोड़े प्रतिबंध हैं वैसे ही भारत-नेपाल के बीच भी थे, पर अब अलगाव की भावना ने क्रमशः प्रतिबंधों को कड़ा करना आरंभ कर दिया है और भारतीयों की गणना विदेशियों में होने लगी है। विकास व्यापार संबंधी हस्तांतरण आदि पर कितने ही प्रतिबंध लगाए गए हैं। फिर भी दोनों देशों की सांस्कृतिक एकता में कोई अंतर नहीं आया है।



समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ४४०

भारतीय तत्त्वज्ञान को विश्वव्यापी बनाया जाए

आज भौतिकवाद की बाढ़ चरमसीमा पर है। मनुष्य छोटा, बौना होता और सिकुड़ता चला जा रहा है। विलासिता और आपाधापी के अतिरिक्त उसे कुछ सूझ नहीं रहा है। तुच्छ स्वार्थों के लिए व्यक्ति और राष्ट्र एक-दूसरे का सर्वनाश करने पर उतारू हैं। बुद्धिवाद, अर्थतंत्र और विज्ञान विकास जिस दिशा में विकसित हो रहे हैं, जिस लिप्सा के लिए लालायित हैं, उस ओर बढ़ते चरण अगले दिनों मनुष्य जाति को सामूहिक आत्म-हत्या के लिए विवश करेंगे। दुष्प्रयोजनों में लगी हुई हमारी बुद्धि, चेष्टा और संपदा संसार में नारकीय वातावरण उत्पन्न करती चली जा रही है। उसका परिणाम किस दुखद दुर्भाग्य में होगा, उसकी कल्पना करने मात्र से सिहरन उठती है।

जीवन और मृत्यु के निर्णायिक चौराहे पर खड़ी मनुष्य जाति कुछ भी करती रहे और हम मूक दर्शक बने देखें, यह उचित न होगा। इतिहास साक्षी है कि विश्व की समग्र प्रगति में भारत ने अपने विकास के आरंभ से ही असाधारण योगदान दिया है। इस देश के देव-मानव सदा से अपने को विश्व मानव मानते रहे हैं और क्षेत्र विशेष की परिधि में अपने को सीमित न रखकर समस्त संसार की अवगति को प्रगति में बदलने के लिए भागीरथ प्रयत्न करते रहे हैं। इस देश में निर्वाह की समुचित सुविधाएँ रही हैं। रत्नगर्भा भारतभूमि के वरद पुत्रों को कभी किसी बात का अभाव दारिद्र्य नहीं रहा। वे समस्त विश्व को अपना सेवाक्षेत्र मानकर सुदूर भूखंडों में अत्यंत कठिन यात्राएँ करते रहे हैं और अविकसित पड़े भूखंडों के पिछड़ेपन को दूर करने के लिए अपने ज्ञान-विज्ञान का पूरा-पूरा

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ४४१

अनुदान प्रदान करते रहे हैं। वन्य जीवों जैसा जीवन यापन करने वाले मनुष्यों को कृषि, पशुपालन, व्यवसाय, शिल्प, वाहन, परिवहन, शिक्षा, चिकित्सा, समाज संगठन, शासन, धर्म संस्कृति आदि से परिचित कराया और उन प्रगति प्रयासों से उन्हें अभ्यस्त बनाकर सुविकसित स्तर तक पहुँचाया। ऐसे अनुदानों ने ही उसे संसार के कोने-कोने से जगदगुरु का भाव भरा सम्मान प्राप्त कराया। उसका चक्रवर्ती सांस्कृतिक साम्राज्य दुनिया की इंच-इंच भूमि पर छाया हुआ था। यह सब इसलिए संभव हो सका कि यहाँ के निवासी सीमित क्षेत्रों में अपने स्वार्थों को सीमित नहीं रखे रहे, वरन् उन्होंने समस्त विश्व को अपना घर-परिवार माना और सार्वभौम सुख-शांति को अपनी निजी प्रगति मानकर किसी भौतिक महत्वाकांक्षा से प्रेरित होकर नहीं, वरन् सर्वजनीन उत्कर्ष के लिए वे अपने अस्तित्व को समर्पित करने में गर्व-गौरव अनुभव करते रहे।

आज की स्थिति में संसार भूतकालीन पिछड़ेपन की अपेक्षा कहीं अधिक दुर्गतिग्रस्त है। अतीत का पिछड़ापन अन्न, वस्त्र, निवास, चिकित्सा, शिक्षा आदि की दृष्टि से ही अभावपूर्ण था। उन दिनों की आवश्यकताएँ और आकांक्षाएँ सीमित रहने से भी लोग उन परिस्थितियों में भी किसी प्रकार तालमेल बैठा लेते थे और बिना उद्धिगता की जिंदगी जी लेते थे। आज हम बुद्धि, धन और सामग्री से सुसंपन्न होते हुए भी उस आदिम काल के मनुष्यों की अपेक्षा कहीं अधिक दुःखद परिस्थितियों में पड़े हुए जल रहे हैं, गल रहे हैं। संसार में कहीं भी चैन नहीं, कहीं भी शांति नहीं, कहीं भी संतोष नहीं। उद्गेग और संक्षोभ से आज मनुष्य जाति का प्रत्येक सदस्य बेतरह जल रहा है।

भावनात्मक निकृष्टता, विचारणा और आकांक्षाओं का पशु प्रवृत्ति तक उत्तर आना, वासना और तृष्णा के लिए सर्वतोभावेन समर्पण, विलासिता और लिप्सा-लालसा में चरम सुख की मान्यता, व्यक्तिवादी स्वार्थपरता की प्रबलता, उदारता और आत्मीयता का परित्याग जैसी दुष्प्रवृत्तियों ने मनुष्य को पशु से भी नीचे गिरा कर पिशाच बना दिया

है। इस स्तर का प्राणी अपनी हलचलों से मात्र अनाचार ही उत्पन्न करेगा और उसके दुष्परिणाम पग-पग पर शोक-संताप उत्पन्न करने वाले होंगे। निकृष्ट व्यक्ति शारीरिक, मानसिक आधि-व्याधियों में ही ग्रस्त रहेगा और निरंतर दुःख पाएगा। यही आज की स्थिति का सही विश्लेषण है। विज्ञान ने अनेकानेक सुविधा साधन उत्पन्न कर दिए हैं। आर्थिक प्रगति ने हमें अनेक सुखोपभोग की आकर्षक उपलब्धियाँ प्रदान की हैं, शिक्षा के विकास ने हमारी बुद्धि को तर्क प्रधान और भली प्रकार से चतुर (कुशल) बना दिया है। इस युग की यह उपलब्धियाँ सर्वविदित हैं। यदि हमारा चिंतन, व्यक्तित्व और लक्ष्य भी परिष्कृत रहा होता तो निस्संदेह इस धरती पर स्वर्ग से कहीं अधिक संपन्नता और प्रसन्नता बिखरी पड़ी होती, पर हुआ उल्लय ही। जहाँ समृद्धि बढ़ी वहाँ सद्बुद्धि का लोप हुआ है। वस्तुस्थिति यह है कि विकास के नाम पर विनाश के ही गर्त में गिरे हैं। यदि यही स्थिति कुछ समय और चलती रही तो हम वहाँ जा पहुँचेंगे, जहाँ से फिर कभी उबर सकना संभव न हो रहेगा।

आज का भारत भौतिक प्रगति में बेशक पिछड़ गया है। हजार वर्ष की लंबी पराधीनता ने हमारी नस-नस तोड़ कर रख दी हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी जो संभव था वह हमारी अनुभवहीनता ने करने नहीं दिया। हम कई क्षेत्रों में विशेषतया सामाजिक प्रखरता के क्षेत्रों में अभी काफी पीछे हैं और अपने को समर्थ बनाने के लिए हमें बहुत कुछ करना है। यह सब होते हुए भी यह एक चुनौती है कि हम अपना घर ही सँभालने, सँजोने में लिप्त न रहें, वरन् सारे गाँव के छपरों में जो आग लग रही है, उसकी ओर भी ध्यान दें अन्यथा घर बनाने के हमारे सारे प्रयत्न व्यर्थ चले जाएँगे और गाँव के अन्य लोगों के साथ ही हमारा भी सब कुछ जल कर नष्ट हो जाएगा। इस सर्व भक्षी दावानल की ओर से इसलिए आँखें मूँदे नहीं रह सकते कि हमें अपने मतलब से मतलब रखना चाहिए। अब सारी दुनिया एक है। एक का विकास तो एक बार दूसरे के पिछड़ेपन को न भी दूर करे, पर

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ४४३

विनाश की आग उतनी व्यापक होगी जिसमें सभी जलेंगे। पिछले दो महायुद्ध दो-दो देशों में आरंभ हुए थे, पर उनके दुष्परिणामों ने संसारभर के हर देश को प्रभावित किया। आज जो अनैतिकता की, उच्छृंखलता की, भोगवाद की, निष्ठुरता, स्वार्थपरता की दावानल धधकी है, उसकी आग से हम शांति प्रिय लोग भी अछूते न रह सकेंगे। कोई चिनगारी हमारे टूटे-फूटे घर को भी जलाकर खाक कर देगी और घर बनाने के हमारे सुखद प्रयास अकाल मृत्यु के उदर में समा जाएँगे।

यहाँ यह नहीं कहा जा रहा है कि अपना घर बनाने से हमें हाथ खींच लेना चाहिए और विश्व निर्माण में ही सर्वतोभावेन जुट जाना चाहिए। ऐसी सलाह न उचित है और न संभव। यहाँ केवल यह कहा जा रहा है कि हम अपने देश की भौतिक प्रगति के वर्तमान प्रयासों को ही पर्याप्त न मानें, वरन् चिंतन और चरित्र में घुसी हुई विकृतियों के निराकरण के लिए भी ध्यान दें और प्रयत्न करें। यह कार्य हमें अपने देश में तो करना ही है, साथ ही व्यापक क्षेत्र पर भी दृष्टि रखी जाए। विश्व नागरिकता की, विश्व परिवार की, विश्व मानव की, विश्व एकता की बात को भुला न दिया जाए। हमारे पूर्वजों की नीति सही थी, जिसमें वे घर और बाहर के अंतर को घटाते हुए सर्वजनीन प्रगति के लिए व्यापक प्रयत्न करते थे और दूर देशों को भी अपना कर्मक्षेत्र मानते थे। विश्व को हमने असंख्य अनुदान दिए, उसका बदला हमें कुछ भी न मिला हो ऐसी बात नहीं है। श्रेष्ठ क्रिया की उत्कृष्ट प्रतिक्रिया ही होती है। संसार को समुन्नत बनाने के प्रयास में भारत की अपनी परिस्थितियाँ भी सुविकसित हुई थीं। विश्व सेवा का विशाल क्षेत्र हमारे अपने क्षेत्र को भी उस सेवा साधना के परोक्ष लाभों से लाभान्वित हुए बिना खाली हाथ न रहने देगा।

आज की स्थिति में भी भारत विश्व का नेतृत्व दार्शनिक क्षेत्र में कर सकता है। उसका अध्यात्म इतना उत्कृष्ट है कि उसे किसी देश जाति और काल की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता, वरन् सार्वभौम सार्वजनीन और सार्वकालिक कहा जा सकता है।

समस्त विश्व को भारत के अजन्त्र अनुदान / ४४४

भटकाव को सही राह पर लाने की उसमें पूरी-पूरी क्षमता है। संसार के अन्य देशों ने पिछले दिनों हमें बहुत कुछ दिया है। हम और कुछ तो नहीं पर उत्कृष्ट स्तर का ऐसा तत्त्वदर्शन दे सकते हैं, जिससे भटकी हुई मनुष्य जाति अपनी स्थिति पर पुनर्विचार करने और दिशा प्रवाह बदलने के लिए तत्पर हो सके। यद्यपि यह परोक्ष अदृश्य और सूक्ष्म है फिर भी इतना महत्त्वपूर्ण है कि सर्वभक्षी दावानल पर अजस्र अमृत बरसा होने जैसा जादुई परिणाम उत्पन्न हो सकता है। विनाश के मार्ग पर चल रही अंधी घुड़दौड़ विकास के पथ पर मोड़ी जा सकती है। दर्शन मनुष्य जाति का प्राण है, जीवन है, प्रकाश है और बल है। नास्तिकतावादी, भोगवादी दर्शन ने हमें नर-पशु बना दिया है। यदि स्थिति उलट दी जाए और जनमानस में आदर्शवादी उत्कृष्टता की मान्यताएँ जमने लगें तो स्थिति का काया-कल्प हो सकता है, दुर्बुद्धि की आग में भुन रहे संसार को आज भी भारतीय तत्त्वदर्शन, अध्यात्म बहुत कुछ दे सकता है। इतना दे सकता है कि मरण को जीवन में बदला जा सके।

स्वामी विवेकानन्द से एक बार अमेरिका में पूछा गया कि भारत छोड़कर आप वेदांत की शिक्षा देने इतनी दूर क्यों आए? इसके उत्तर में उन्होंने यही कहा कि भारत अभी लंघन से उठ रहा है। उसे पुरुषार्थ करने और रोटी-रोजी कमाने की शिक्षा ही हजम हो सकेगी। आप लोग शिक्षा और दूसरे क्षेत्रों में काफी आगे बढ़कर इस योग्य बन चुके हैं कि वेदांत की शिक्षा को समझ सकें और उपयोग में ला सकें। ठीक इसी से मिलता-जुलता उत्तर एक बार स्वामी रामतीर्थ ने जापान के लोगों को दिया था। यह उचित ही है। हम स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार अपने देश की भी सेवा करें, पर जो लोग इससे अपरिचित हैं, किंतु अति उपयोगी तत्त्वदर्शन को पचा सकते हैं, वहाँ तक प्रकाश क्यों न पहुंचाएँ। विवेकानन्द और रामतीर्थ ने अपनी सूक्ष्म बुद्धि से व्यापक क्षेत्रों में अपनी गतिविधियाँ विस्तृत की थीं। सुभाष चंद्र बोस, वल्लभभाई पटेल ने अपनी संपत्ति का इसलिए ट्रस्ट बनाया था कि

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ४४५

उससे विदेशों में प्रचार कार्य किया जाए। यह स्वस्थ परंपरा है। भारत की प्राचीन रीति-नीति में यह तत्त्व गहराई के साथ घुसा हुआ है। कोई कारण नहीं कि वह प्रयास निर्थक ठहराए जाएँ।

ईसाई देशों की अपनी आवश्यकताएँ हैं। वहाँ प्रगति के सारे काम समाप्त हो गए हैं, ऐसी बात नहीं है, फिर भी वे इस बात का घोर प्रयत्न करते हैं कि विदेशों में उनकी संस्कृति फैले। इसके लिए वे प्रचुर परिमाण में जनशक्ति और धनशक्ति भी नियोजित करते हैं।

इन दिनों भारत में ५४ विदेशी राष्ट्रों के धर्म प्रचारक काम करते हैं। इनमें विदेशी पादरी १७२७, भारतीय पादरी ५४ हजार और महिला पादरी २५ हजार हैं। भारत में २४४९४ गिरिजाघर स्थापित हो चुके हैं।

रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट, दोनों वर्गों के ईसाइयों की जो संस्थाएँ भारत में चलती हैं, उनका विवरण इस प्रकार है—प्राथमिक विद्यालय ७३७९, मिडिल स्कूल १९४०, हाईस्कूल १२३४, कॉलेज १०२, छात्रावास ६५५, अस्पताल ११९६, अनाथालय ६८८।

विदेशों के मुसलिम धर्म प्रचारक भी बहुत बड़ी संख्या में इस देश में रहते हैं और प्रयत्न करते हैं कि इनका धर्म किसी न किसी प्रकार वैसी ही तेजी से फैले जैसा कि पिछली शताब्दियों में फैला। अपने देश में आजादी मिलने के समय ७० लाख ईसाई थे। इन दिनों उनकी संख्या दो करोड़ से अधिक है। यह उस प्रचार प्रक्रिया का ही परिणाम है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के एक अनुमानानुसार सन् २००० में भारत की आबादी एक अरब होगी। जिनमें ४५ करोड़ हिंदू, ४० करोड़ मुसलमान और १५ करोड़ ईसाई होंगे।

यह आँकड़े बताते हैं कि अन्य देशवासी, अन्य धर्मावलंबी किस प्रकार अपने देश की सीमा से बाहर भी सांस्कृतिक प्रसार में दिलचस्पी रखते हैं। ईसाई धर्म को जन्मे २००० से भी कम वर्ष बीते हैं। इतने में उसने संसार की एक तिहाई जनता को अपने प्रभाव क्षेत्र में

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ४४६

ले लिया है। अब चार सौ करोड़ की आबादी इस संसार की है। इसमें से प्रायः डेढ़ करोड़ ईसाई हैं। यह उनके धर्म प्रचार का परिणाम है। क्रिश्चयन मिशन के लोग प्रचुर धनशक्ति और जनशक्ति इस प्रयोजन के लिए झोंकते हैं, यह देखते ही बनता है। संसार के दो-तिहाई भाग पर ईसाई लोग राज्य करते हैं। इसमें जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए उन्होंने अपना सांस्कृतिक साम्राज्य पहले से ही कायम किया। वे आगे-आगे बाईविल और पीछे-पीछे बंदूक लेकर बढ़े हैं। धर्म को भले ही आदर्शों की गहनता के कारण उपेक्षणीय माना जाए, पर उसका सांस्कृतिक पक्ष इतना सामर्थ्यवान है कि उसे राजनीति से भी अधिक महत्वपूर्ण कहा जा सकता है।

मुसलमानी धर्म का जन्म तेरहवीं शताब्दी पूर्व हुआ पर उनका विस्तार भी सौ करोड़ के करीब पहुँच गया है। वे भी निरंतर बढ़ते जाते हैं। उन्होंने पहले तलवार से अधिकार किया, किंतु पीछे यह आवश्यक समझा कि यदि अपना अस्तित्व रखना है तो उन विजित देशों को सांस्कृतिक बंधनों में दृढ़ता से बाँधा जाए। राजसत्ता को बढ़ाने और जमाने के उन्होंने जितने प्रयत्न किए उससे ज्यादा शक्ति इस बात पर खरच की कि अपनी जड़ें सांस्कृतिक आधार पर मजबूत बनाई जाएँ जो गहरी धाँस जाएँ। इसका परिणाम प्रत्यक्ष है। जहाँ अब मुसलमानी राज्य नहीं है, वहाँ के लोग भी अपनी धर्म भूमि की, जाति भाइयों की उचित-अनुचित हिमायत करते हैं। इसकी एक झाँकी असहयोग आंदोलन के दिनों मिली, भारत में खिलाफत के समर्थन में जो लहर बही थी, बंगाल और काश्मीर के संबंध में अधिकांश मुसलमानों का जो रुख देखा गया, उससे विदित होता है कि इन लोगों में देशभक्ति से भी सांस्कृतिक भक्ति की जड़ें अधिक गहरी होती हैं।

हम इन तथ्यों की ओर से आँखें मूँदे हुए हैं। हिंदुओं की संख्या निरंतर घट रही है। जिस अनुपात में आबादी बढ़ रही है उसकी तुलना में सांस्कृतिक प्रभाव क्षेत्र दुःखद स्थिति में घट रहा है। भारत में जो स्थिति है, उसे देखते हुए लगूता है कि अन्य

संस्कृतियाँ अगली आधी शताब्दी में ही उसकी अपनी संस्कृति को पछाड़ देंगी और बहुमत से हटाकर अल्प संख्यकों में बदल देंगी। उपेक्षा और अन्यमनस्कता का यही स्वाभाविक परिणाम है।

प्रवासी भारतीयों की स्थिति और भी दयनीय है। वे अपनी मातृभूमि से बहुत दूर पड़ गए हैं। ईसाई और इस्लामी प्रभाव से वे धिरे हुए हैं। अपना आकर्षण और पाचन उन्हें गँवा दिया। वे दूसरे धर्मानुयायियों को अपने धर्म में लाने का साहस नहीं कर पाते। कोई भी भूले भटके आ भी जाएँ तो उसे पचा नहीं पाते। उलटे अपने लोग दूसरे के प्रभाव में द्रुत गति से जा रहे हैं। अपनी ओर से कोई पोषण नहीं। उनका भावनात्मक सिंचन नहीं। वहाँ ऐसी परिस्थितियाँ नहीं जिनसे उन्हें अपनी आस्थाएँ यथावत बनाए रहने एवं उन्हें सुदृढ़ परिपक्व बनाए रहने की प्रेरणा मिले। इस स्थिति में अपनी सांस्कृतिक गरिमा को भूल जाने वाले लोग यदि अन्य धर्म संस्कृतियों में विलीन होते चले जाएँ तो इसमें कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है। जो नाम मात्र के हिंदू रह गए हैं, उनकी आस्थाएँ भी क्रमशः दुर्बल होती चली जा रही हैं और यह संभावना स्पष्ट दिखाई पड़ रही है। प्रवासी भारतीयों में से अधिकांश एक शताब्दी के भीतर ही अन्य धर्मानुयायी बन जाएँगे।

हमारे कंधों पर इन विषम परिस्थितियों के दो तकाजे हैं, एक तो मरणोन्मुख मानवीय सभ्यता की प्राण-रक्षा के लिए भोगवादी अनास्थाओं के काल-गाल में प्रवेश करती हुई आदर्शवादिता को जीवित रखने के लिए उस धर्म अध्यात्म की संजीवनी बूटी अपेक्षित है जो भूतकाल में समस्त विश्व को प्रकाश और प्राण प्रदान करती रही है। विज्ञान और बुद्धिवाद के अस्त्र मनुष्य के लिए आत्मघाती भस्मासुर बन रहे हैं। इन उन्मत्त गज कुंजरों को यदि धर्म के अंकुश से नियंत्रित न किया गया तो वे स्वयं मरेंगे और अपने ऊपर बैठी सवारी को चीर-फाड़कर रख देंगे। आज मानवी जाति की विशेषतया प्रगति संपन्न देशों की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि उन्हें मदोन्मत्त मनःस्थिति से उबारने के लिए अध्यात्म का शामक अमृत जल पिलाया जाए। विनाशकारी

विभीषिकाओं को उज्ज्वल भविष्य की संभावनाओं में परिणत करने का उपाय है—भावनावादी तत्त्वदर्शन के प्रभाव क्षेत्र में समस्त मनुष्य जगति को लाया जाए। इस प्रयोजन को संसार की श्रेष्ठतम वह संस्कृति ही पूरा कर सकती है, जिसे भारतीय संस्कृति कहते हैं। वस्तुतः वह मानवी तंत्रकृति है। सार्वभौम सार्वजनीन और सर्वकालिक है। उसकी जानकारी लोगों को मिलती रही होती तो निस्संदेह समस्त संसार उसी कर्म छाँह में बैठकर मोद मना रहा होता।

पूर्वजों के महान उत्तराधिकार का दूसरा तकाजा यह है कि हम अपने महान पूर्वजों के उन चरण चिह्नों पर चलने का प्रयास करें जिनके अनुसार उन्होंने घर बनाने के अतिरिक्त बाहर प्रकाश फैलाने का भी प्रयत्न किया था। आज के विश्व में सबसे बड़ी आवश्यकता उस अमृत बरसा की है, जिससे उसके मूच्छित प्राणों में पुनः नव जीवन संचार हो सके। यह कार्य भारतीय तत्त्वज्ञान का आलोक सुदूर मध्यसागर में फैलाने से ही हो सकता है। यह उद्बोधन अपने देश में तो ज्ञाना ही चाहिए, पर उसे किसी क्षेत्र विशेष तक प्रतिबंधित न किया जाए, उसे जहाँ भी उपजाऊ भूमि मिले वहीं बोया जाए। आपत्ति धर्म के अनुसार उसे अधिक बदहवास लोगों को पहले देने की बात भी सौची जा सकती है, ताकि वे विकृतियों के उम्माद में अपना और पञ्चेसियों का सर्वनाश कर डालने से रुक सकें। संसार भर में भारतीय संस्कृति के अध्यात्म तत्त्वज्ञान का विस्तार करना आज का हमारा एक परम पवित्र सांस्कृतिक कर्तव्य है।

इस कर्तव्य में एक छोटी सी कड़ी और जुड़ जाती है, जब हम प्रवासी भारतीयों की स्थिति को देखते हैं। समुद्र पार उनकी संख्या ३५० लाख के करीब हैं। समुद्री सीमाओं से भीतर नेपाल, भूटान, सिक्किम, बंगलादेश, पाकिस्तान, लंका, वर्मा आदि देशों में भारत मूल के हिंदी धर्मानुयायियों की संख्या प्रायः दस करोड़ तक जौँ पहुँची है। वे राजनैतिक दृष्टि से किसी देश के नागरिक क्यों न हों। वस्तुतः वे सांस्कृतिक दृष्टि से भारत के ही नागरिक हैं। उनकी

नसों में भारतीय रक्त ही प्रवाहित हो रहा है। उनका सांस्कृतिक पोषण करना बड़े भाई के नाते हमारा कर्तव्य है। सूत्र टूट जाने से वे दाने आज नहीं तो कल बिखर ही जाएँगे।

जलते संसार पर तत्त्वज्ञान का अमृत छिड़कने और प्रवासी भारतीयों का सांस्कृतिक पोषण करने के दोनों उत्तरदायित्व एक ही योजना के अंग बनाए जा सकते हैं और हमारी भावी सांस्कृतिक सेवा योजना को दोनों आवश्यकताओं को पूरी करने योग्य समन्वित बनाया जा सकता है। प्रवासी भारतीयों को प्रथम संपर्क में लें। उनसे घनिष्ठता बढ़ाएँ, उत्साह पैदा करें और पैर जमाने योग्य सुविधा प्राप्त करके उन-उन क्षेत्रों में सरलतापूर्वक तत्त्वज्ञान की प्रकाश किरणों का विस्तार करना आरंभ कर दें। यह अपेक्षाकृत सरल है।

एकांकी प्रचार उथला रहेगा, जब तक ईसाई मिशनरियों की तरह डेरा डालकर कहीं रहा नहीं जाएगा, तब तक कोई ठोस काम नहीं हो सकेगा। यदा-कदा जा पहुँचना और लैकचर झाड़कर वापस चले आना एक मनोविनोद मात्र है। उससे क्षणिक उत्साह मात्र भले ही पैदा हो, कहने लायक परिणाम नहीं निकल सकता। काम तो स्थिर और अनथक प्रयत्नों से ही होता है। विश्वव्यापी सांस्कृतिक प्रसार के लिए हमारी सुगठित योजनाएँ इसी स्तर की होनी चाहिए। इसी आधार पर बननी चाहिए।

इस संदर्भ में हमें प्रवासी भारतीयों के साथ घनिष्ठ संबंध बनाने और उन्हें सांस्कृतिक पोषण देने की बात को प्रथम चरण की तरह हाथ में लेना चाहिए। दूसरा कदम उठाने में हमें उसी आधार के सहरे सुगमता होगी। विश्व के कोने-कोने में कुछ एक को छोड़कर प्रायः सभी देशों में भारतीय मूल के भारतीय धर्मानुयायी बसे हुए हैं। यदि उनका सांस्कृतिक पोषण करने को, उनको अपने धर्म और आध्यात्मी की आदर्शवादी परंपराओं का उद्बोधन कराने का लक्ष्य लेकर वहाँ जाया जाए तो हमारी सद्भावना उन्हें अवश्य ही प्रभावित करेगी। वे हमारे सहयोग का लाभ लेना चाहेंगे और अपना सहयोग देना चाहेंगे।

इस उभय पक्षीय अनुदान के सहारे वे सरंजाम खड़े हो सकते हैं जिनसे उन देशों के जनमानस में भारतीय धर्म की-मानव धर्म की प्रकृति किरणों का प्रवेश कराया जा सके।

प्रवासी भारतीयों में काम करते हुए हमें एक दृष्टिकोण और विकसित करना होगा कि हिंदू धर्म और बौद्ध धर्म को एक ही वस्तु के दो पक्ष माना जाए। रूपये में एक तरफ कुछ अलग अंकन होता है और दूसरी तरफ कुछ और। इस भिन्नता के रहते हुए भी दोनों की अविच्छिन्न एकता में कोई अंतर नहीं आता। बौद्ध धर्म हिंदू धर्म के अनेकानेक शाखा, पत्लबों में से एक है। हम अपनी ओर से एकता के प्रयास न करेंगे और थोड़ी सी प्रथा मान्यताओं के कारण उन्हें भिन्न धर्मानुयायी मानेंगे तो फिर एक संकीर्णता जाति-उपजाति और गोत्र-उपगोत्रों में विभाजित करते-करते हमें सर्वथा एकांकी बना देगी। अपने विशाल सांस्कृतिक परिवार को हमें एक समझना होगा और प्रथकवाद का विष जहाँ भी घुस गया है, वहाँ से उसे उखाड़ फेंकना होगा। बौद्ध धर्म हिंदू धर्म से अलग हुआ। अब सिख संप्रदाय की ओर से भी ऐसी ही बातें कहीं जाने लगी हैं। कुछ समय पूर्व जैन समाज से भी ऐसी ही हल्की-पतली आवाजें उठीं थीं। जाति-पाँति के नाम पर देश के टुकड़े-टुकड़े कर डालना जितना बुरा है उससे भी बुरा संप्रदाय के आधार पर विशाल भारतीय संस्कृति को क्षत-विक्षत करना है। पिछले दिनों हमने गलतियाँ करके बौद्धों को यह सोचने का अवसर दिया कि वे हिंदू धर्म से अलग हैं। अब उस भूल को सुधारने का उपयुक्त अवसर है। हमारी विश्व संस्कृति सेवा अभियान का एक अंग यह होना चाहिए कि संप्रदाय विभेदों को महत्त्व तनिक भी न दें। सांस्कृतिक मूल के समस्त मत-मतांतरों को एक मानकर चलें। शरीर में कई तरह के कई आकार-प्रकार के अवयव होते हैं, पर इस कारण उन्हें शरीर से अलग तो नहीं समझा जा सकता। इंडोनेशिया, मलेशिया के एक बड़े भाग में इस्लाम ने जड़ें जमा लीं। जापान, सिंगापुर, हांगकांग आदि में ईसाई बढ़ रहे हैं। इतना सब होते हुए भी बौद्ध धर्मानुयायियों की

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ४५१

संख्या इतनी अधिक है कि इन्हें हिंदू धर्म के साथ जोड़ा जा सके तो विश्व की सबसे अधिक जन-संख्या भारतीय धर्मानुयायियों की हो जाएगी।

विदेशों में गए भारतीय सिखों की संख्या भी कम नहीं है। उनमें श्रद्धा और विश्वास कहीं अधिक है। उनके गुरुद्वारे संसार के हर कोने में वहाँ बसे प्रवासी सिखों द्वारा बनाए गए हैं। उनके क्रिया-कलाप अपेक्षाकृत अधिक श्रद्धा, जागरूकता, उत्साह से भरे रहते हैं। उन्हें जीवन की उपयोगिता प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है। इन सिखों में जो अलगाव की भावना प्रवेश करती जा रही है, उसे हमारी उदार और विशाल दृष्टि द्वारा सहज ही हलका किया जा सकता है। यह खाई आसानी से पाटी जा सकती है। अभी भी इसके लिए अधिक देर नहीं हुई है।

हमें हिंदू धर्म का ऐसा साँचा खड़ा करना चाहिए, जिसमें बौद्ध-सिख ही नहीं प्रत्येक भारतीय सांस्कृतिक मूल को लेकर उत्पन्न हुए सभी संप्रदायों को एकता के सूत्र में बाँधा जा सके। थोड़ा साहस करने पर पारसी धर्म भी इसी शृंखला में आ जाता है। उसमें अग्नि पूजा से लेकर अन्य अनेक परंपराएँ एवं मान्यताएँ ऐसी हैं, जिन्हें देखकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इस संप्रदाय को मूल हिंदू धर्म से बिछुड़े अभी बहुत समय नहीं हुआ है। इस विशाल हिंदू धर्म का स्वरूप ही देश में और विदेशों परे भारतीय संस्कृति के क्षत-विक्षत अवयवों को एक सूत्र में बाँध सकेगा, एक परिवार के अविच्छिन्न सदस्य बना सकेगा। हमें ऐसी समन्वित सार्वभौम हिंदू धर्म संस्कृति का ढाँचा खड़ा करना चाहिए और उसे न केवल देश में, वरन् विदेशों में भी प्रवासी भारतीयों मैं पहुँचाने का प्रयत्न करना चाहिए। तभी उससे अभीष्ट उद्देश्यों की पूर्ति हो सकेगी। तभी वह अन्य धर्मावलंबी जनता को प्रभावित कर सकेगा। हम हिंदू धर्म को सार्वभौम मानव धर्म की भूमिका निभां सकने योग्य सर्व समर्थ बनाना चाहेंगे और वह कार्य कुछ दिनों में पूरा होकर अपने परिष्कृत रूप में सामने आ जाएगा।

२

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ४५२

पिछले दिनों भी हमारे तथाकथित धर्म-प्रचारक प्रवासी भारतीयों में कुछ प्रचार करने जाते रहे हैं। उनके जाने से लाभ के स्थान पर हानि अधिक पहुँची है। वे संप्रदाय विशेष के प्रतिनिधि बनकर पहुँचते रहे हैं और अपने मत को ही हिंदू धर्म बताते रहे हैं। इससे उनके अनुयायी तो प्रसन्न हुए पर अन्य मत वाले रुष्ट हो गए। एकता के स्थान पर पृथकता ही उन्होंने अधिक फैलाई। वहाँ भी अपने संप्रदाय विशेष के शिष्य मूँड़ और मंदिर-मठ बनाए, संस्थान खड़े किए। भारत में कोई मौद्दर, आश्रम बनाने के बहाने मोटी दान-दक्षिणा समेटकर वापस चले आए प्रवासी भारतीयों में गए धर्म प्रचारकों में से अधिकांश का स्वरूप और क्रिया-कलाप ऐसा ही रहा है।

अध्यात्म के नाम पर श्री ऐसे ही खेल-खिलौने खड़े किए जाते रहे हैं। कुछेक आसन, कुछेक प्राणायाम, कुछेक कर्मकांड बस इतनी ही उनकी अध्यात्म भूमिका रही है। इसी के लंबे-चौड़े चमत्कार बताए गए और न जाने क्या मिलने के ढोल पीटे गए। विदेशों में भारतीय तत्त्वज्ञान और अध्यात्म के प्रति अभी भी कौतूहल भरी जिज्ञासा है। इससे लाभ उठाकर इन योग प्रचारकों ने न जाने क्या से क्या ढकोसले खड़े कर दिए। आरंभ में उनका बहुत स्वागत हुआ और समर्थन मिला, पर जब नशा उतरा और ढोल की पोल खुली तो सारा सिराजा बिघुर गया। ऐसे भाग प्रचारकों ने विलासिता के बढ़े-चढ़े ढाँचे सहज ही खड़े कर लिए। विदेशों में भावुकता भी है और संपन्नता भी। योग के नाम पर उसका दोहन करने से इन तथाकथित योगियों को अनायास ही सफलता मिल गई है। उनका ढोंग ही पुज गया।

इन धर्म प्रचारकों और योगियों की प्रवासियों में तथा अन्यान्य धर्मावलंबी विदेशियों में अच्छी-खासी धमाचौकड़ी रही है। कुछ लोग राजनैतिक या अन्य महत्वाकांक्षाएँ लेकर भी वहाँ गए हैं। कुछ का सूर-सपाटा करना और अपनी विश्व सेवा की विज्ञापनबाजी करना भी एक प्रयोजन रहा है। ऐसे लोग बहुत ही कम गए हैं, जिनका उद्देश्य भारतीय संस्कृति की प्रकाश किरणें विश्व के कोने-कोने में

पहुँचाना और प्रवासी भारतीयों की निष्ठा का परिपोषण करना भर रहा हो और जिनके पीछे कोई क्षुद्र प्रयोजन न रहा हो। ऐसे लोग रहे हैं, पहुँचे हैं, पर उनकी संख्या बहुत स्वल्प रही है। अधिकांश लोग ऐसे ही गए हैं, जिन्हें अश्रद्धा उत्पन्न की है, भ्रांति फैलाई है और विभेद की खाई चौड़ी की है। इस दिशा में अब तक हुए प्रयासों को इस स्तर का नहीं माना जा सकता, जिस पर पहुँचकर ईसाई मिशनरी संस्कर भर में जाते हैं, वहाँ बसते हैं, असाधारण कष्ट सहते हैं और अपने आपको अनन्य श्रद्धा के साथ मिशन के लिए समर्पित होकर प्रसन्नतापूर्वक गला दिया करते हैं। यदि ऐसा रहा होता तो हम प्रवासी भारतीयों को आज की अपेक्षा कहीं अधिक संस्कृतिनिष्ठ पाते और विदेशों में भारतीय तत्त्व-ज्ञान के प्रति झुकाव हजारों गुना अधिक पाया जाता। दुर्भाग्य ही है कि हमारे विदेशों में गए हुए धर्म तथा अध्यात्म प्रचारक कुछ संतोषजनक प्रतिक्रिया उत्पन्न न कर सके।

समय आ गया है कि हमें नए सिरे से इस दिशा में कुछ सोचना चाहिए और नए साहस के साथ कदम बढ़ाने चाहिए। युग्म निर्माण योजना के संचालक विदेश यात्रा पर निकले भी और अभीष्ट लक्ष्य के लिए कुछ कदम बढ़ाए भी। उनके थोड़े से प्रयास से यह विश्वास उत्पन्न किया कि यदि सही योजना और उद्देश्य लेकर कोई कुछ करना चाहे तो उसका निश्चित रूप से स्वागत होगा। विश्व-कल्याण और प्रवासी स्नेह सिंचन उभय पक्षीय कार्यक्रमों का समन्वित स्वरूप यदि हमारी भावी योजना बन सके तो उसके दूरगामी परिणाम होंगे। इस आधार पर हमारा सेवा क्षेत्र कायम होगा और उसी अनुपात से हम अनेक प्रकार लाभान्वित भी होंगे।

बुद्ध के अनुयायियों ने इसी प्रयोजन के लिए दुस्साहसपूर्ण कदम बढ़ाए थे। उनका त्याग-बलिदान निरर्थक नहीं गया। यदि एशिया में पिछले दिनों नास्तिकवाद की लहर न आती तो वह इस महाद्वीप का सर्वप्रधान धर्म रहा होता। अभी भी उन प्रयासों की प्रतिक्रिया कोटि-कोटि मनुष्यों को शांतिदायक प्रेरणाएँ दे रही है।

बौद्ध धर्म के प्रसार ने संसार के बड़े भाग की धर्म श्रद्धा भारतभूमि के साथ जोड़ी थी। अभी भी लाखों तीर्थयात्री इस देश की पुण्यभूमि की रज अपने मस्तक पर चढ़ाकर धन्य होते हैं। इस भाव-श्रद्धा का प्रत्यक्ष न सही परोक्ष मूल्य बहुत भारी है। सांस्कृतिक परिवार किसी न किसी रूप में एक-दूसरे के सहयोगी ही रहते हैं। आड़े वक्त वाम आते हैं। कम से कम विपरीत तो नहीं पड़ते। नेपाल और भारत में कोई राजनैतिक विरोध कभी हो भी जाए तो भी वे सांस्कृतिक एकता के प्रगाढ़ बंधनों में बँधे ही रहेंगे। यही बात अन्य देशों में भी लागू हो सकती है। जहाँ भी हम अपने दर्शनों की छाप बैठा सकेंगे, वहाँ की सद्भावना हम सहज ही उपार्जित कर लेंगे। उसके परोक्ष लाभ कितने हो सकते हैं, यह चर्चा का नहीं दूरदर्शिता और गहरी दृष्टि से सोचने-समझने का विषय है।

यह तो छोटे और सामयिक लाभ हुए। मूल लक्ष्य इन बातों से बहुत ऊँचा है। लोक चेतना को आदर्शवादी चिंतन और कर्तृत्व में नियोजित करके हम संसार की, समय की, मनुष्य की कितनी महान सेवा-साधना करते हैं इस पर जितना अधिक विचार किया जाए उतना ही उसका अधिक महत्व सामने आता जाएगा। प्रवासी भारतीयों को, भारत माता के बिछुड़े पुत्रों को उनकी धर्म-भूमि का भावभरा वात्सल्य मिले, यह हर दृष्टि से उचित और आवश्यक है। हमें युग की इस महती माँग पूरा करने के लिए कुछ ठोस प्रयास करना ही चाहिए।

इस संदर्भ में सोचा यह गया है कि युग निर्माण योजना के अगले कदम इस दिशा में भी उठें। प्रस्तुत पुस्तक को इसी दृष्टि से लिखा और छापा गया है कि हम अतीत में भारतीय तत्त्वदर्शियों द्वारा किए गए उन महान कार्यों को देखें और समझें, जो उन्होंने देश की सीमित मारिधि से बाहर निकलकर समस्त विश्व की सर्वतोमुखी सेवा-सहायता करने के लिए उठाए थे। इस दिशा में उन्होंने कितने त्याग और बलिदान प्रस्तुत किए थे और उन उत्कृष्ट प्रयासों को कितनी सफलता मिली थी, उसे एक दृष्टि से फिर देखा जाए और उस महान

परंपरा के निर्वाह के लिए आवश्यक उत्साह प्राप्त किया जाए। आज उन प्रयासों के अनुकरण की, अनुगमन की महती आवश्यकता है। उन दिनों यातायात, भाषा, सिक्का आदि की भारी असुविधा थी। आज की स्थिति अपेक्षाकृत बहुत सुविधाजनक हो गई है। यदि भीतर से कुछ उमंग उठे तो व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से उपरोक्त प्रयोजन के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है। समय की सूनौती इस दिशा में साहसिक कदम बढ़ाने के लिए हमें बाध्य करती है।

हमें विदेशों में अपने सांस्कृतिक दूतावास पहुँचाने चाहिए। विवेकानन्द और रामतीर्थ ने जो परंपराएँ कायम की थीं उन्हें आगे बढ़ाना चाहिए। भवानी दयाल संन्यासी, सत्यदेव परिव्राजक, टी०एल० वास्वानी ने इस दिशा में पिछले दिनों विदेशों में सांस्कृतिक संदेश सुनाने के लिए महत्वपूर्ण कार्य किए। उस प्रवाह को अवरुद्ध नहीं होने देने चाहिए। योजनाबद्ध रूप से इस दिशा में कार्य किया जाना चाहिए। व्यक्तिगत रूप से जाने वाले धर्म प्रचारकों का क्रम स्वेच्छा संचालित होता है। प्रायः वे सीमित उद्देश्य लेकर जाते हैं। उन्हें आर्थिक व दूसरे साधन भी स्बयं ही जुटाने पड़ते हैं। ऐसी दशा में उनके चिंतन और क्रिया-कलाप दोनों में ही अटपटापन आ जाता है। ईसाई पादरियों की तरह हमारे मिशनरी भी निश्चित होकर अभीष्ट कार्य में अपना पूरा ध्यान और पूरा प्रयास केंद्रित करें, तभी कुछ ठोस काम हो सकता है। युग निर्माण योजना सोचती है कि हमें अपना मिशन बाहर भेजने के लिए भी योजना बनानी चाहिए। अपने देश में जिस बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक सुधार की आवश्यकता है, उसकी आवश्यकता समस्त संसार को है। भले ही, सुधार के लिए जिस प्रकार कार्य अपने देश में हमें करना है, उससे परिस्थितिवश अन्य देशों में भिन्न प्रकार का हो।

कहा जा चुका है कि विदेशों की अन्य धर्मावलंबी और अन्य संस्कृतियों की मान्यता वाली जनता के गले सीधे ही अपना तत्त्वज्ञान उतार सकें, यह कठिन है। प्रथम चरण में प्रवासी भारतीयों से

संपर्क साधना पड़ेगा, उनका सांस्कृतिक पोषण करना पड़ेगा। उनके सहयोग से अपने मिशनों को मिशनरियों को पैर टिकाने की जगह मिल जाएगी और ऐसे लोगों के पते मिल जाएँगे जो पहले से भी भारतीय तत्त्वज्ञान से परिचित रहे हैं और उसके प्रति सद्भावना रखते रहे हैं। ऐसे लोगों के संपर्क को घनिष्ठ बनाकर इस स्तर तक विकसाया जाएगा कि उनका सहयोग भी मिलने लगे। इस प्रकार अन्य देशवासियों में हम अपनी बात इस प्रकार कह सकेंगे कि उनके गले में उसे उतारना सरल और संभव हो जाए।

इस संदर्भ में हमें एक बार समस्त विश्व में फैले हुए प्रवासी भारतीयों का पर्यवेक्षण करना पड़ेगा कि उनकी इन दिनों क्या स्थिति है। इस जानकारी के आधार पर ही उनके साथ संपर्क बनाने के आधारों और कार्यक्रमों की योजना बनाई जा सकेगी। सब भेड़ें एक लाठी से नहीं हाँकी जा सकती हैं। हर देश में प्रवासियों की भिन्न परिस्थितियाँ हैं, उन्हीं के अनुरूप प्रचारक की योग्यता तथा तैयारी होनी चाहिए, अन्यथा वह असफल होकर वापस लौटेगी।

ईसाई मिशनरियों ने इस संबंध में पूरी-पूरी जानकारियाँ एकत्रित कर रखी हैं। जहाँ उनके कार्य हो रहे हैं वहाँ भेजे गए पादरियों को कार्यक्षेत्र की पूरी जानकारी दी गई है। इसके लिए उन लोगों ने सुविस्तृत खोजबीन की है और आवश्यक जानकारी देने वाले ग्रंथ छापे हैं। उसी ज्ञान के सहारे पादरी लोग अन्य देशों में जाकर वहाँ की परिस्थिति के अनुसार कुछ काम कर सकने में समर्थ होते हैं। उसी पद्धति का अनुकरण हमें भी करना होगा। हर देश की अलग न सही एक ही स्थान में सारे संसार में रहने वाले प्रवासियों की स्थिति का, वर्तमान परिस्थितियों का सुविस्तृत चित्रण करने वाला एक ग्रंथ तो होना ही चाहिए। ऐसा ग्रंथ किसी दफ्तर में बैठकर नहीं लिखा जा सकता, वरन् उसके लिए कम से कम एक दौरा तो पर्यवेक्षण के लिए करना ही होगा।

दुर्भाग्य की बात है कि प्रवासी भारतीयों की वर्तमान स्थिति का बोध करने वाली एक भी सर्वांगपूर्ण पुस्तक उपलब्ध नहीं है। जो बहुत

दिन पहले छपी थीं वे अब बहुत पुरानी हो गई हैं। जो सीमित जानकारियाँ उनमें थीं वे वैसे भी अपर्याप्त थीं। उनमें भारत से विदेश पहुँचने के कारणों और वहाँ उनकी दुर्दशा का ही प्रधान रूप से चित्रण था। उन्हें पढ़कर कोई इतना ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता कि जिसके द्वारा वहाँ की वर्तमान स्थिति को जाना जा सके और वहाँ क्या किया जाना चाहिए, किस प्रकार किया जाना चाहिए, इसकी क्रमबद्ध योजना बनाई जा सके। छुटपुट लेखों का संग्रह किया जाए तो भी कुछ नहीं बनता, क्योंकि परिस्थितियाँ बेतरह बदल रही हैं। पूर्वी अफ्रीका के युगांडा देश में कुछ वर्ष पूर्व भारतीयों की जड़ें बहुत मजबूत थीं और उनका उस देश के व्यवसाय में अच्छा प्रवेश था। अब उन्हें वहाँ की फौजी सरकार ने पूरी तरह उखाड़ दिया है। वियतनाम में चले लंबे युद्ध ने उस क्षेत्र में बसे प्रवासी भारतीयों की स्थिति को उलट-पुलटकर रख दिया है। अभी तक लोगों को बाबा आदम के जमाने की जानकारियाँ ही प्राप्त हैं और पुस्तकों तथा लेखों में हमें उसी की झाँकी मिलती है।

सच तो यह है कि इस दिशा में अब तक कुछ सर्वांगपूर्ण कार्य योजनाबद्ध रूप से किया ही नहीं गया। प्रवासी भारतीयों के संबंध में एक अच्छी पुस्तक सी० कांडाये द्वारा लिखित “आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस” तथा ‘इंडियन कौसिल आफ वर्ल्ड एफेयर्स’ द्वारा संयुक्त रूप से प्रकाशित की गई थी, जिसका नाम था—“इंडियन ओवरसीज १९३८-१९४९।” उसे पढ़ने से यह जाना जा सकता है कि लेखक ने श्रमपूर्वक जानकारियाँ एकत्रित की हैं। दूसरा वैसा ग्रंथ देखने को नहीं मिला। सन् ३८ से ४९ तक का समय बीते लंबा अर्सा गुजर गया। इतने समय में जो परिस्थितियाँ बदली हैं, उनकी जानकारी सुदूर नक्षत्रों से चलने वाली प्रकाश किरणों की तरह अभी हम तक नहीं पहुँच पाई हैं।

प्रथम प्रयास हमारा धर्म-प्रचार का नहीं, वरन् विदेशों में प्रवासी भारतीयों की वर्तमान स्थिति, सांस्कृतिक आवश्यकता, उनके लिए अभीष्ट साधन जुटाए जाने की सूचना संग्रह करने की होनी चाहिए। हमें यह ज्ञान होना चाहिए कि प्रथम बार उस देश में जाने पर किन

व्यक्तियों और किन संस्थाओं का सहारा लेकर किस प्रकार कहाँ पैर रखने की जगह बन सकती है और आगे किस प्रक्रिया को अपनाकर किस प्रकार क्या कार्य किया जा सकता है? यह प्राथमिक आवश्यकता है, वहाँ कम से कम एक लाख रुपया मार्ग व्यय आदि के लिए भी चाहिए। पर्यवेक्षण का कार्य सुचारू रूप से कर सकने योग्य व्यक्तियों की अपने पास कमी नहीं, पर मार्ग व्यय के लिए आवश्यक व्यय तो चाहिए ही। उसे जुटाने का कोई साधन बन जाए तो समझना चाहिए कि आरंभिक चरण पूरा हो गया। संग्रहीत रिपोर्ट के प्रकाशित होने पर विचारशील लोगों से कहा जा सकेगा कि तैयारी किस प्रकार की जानी है और उसके लिए क्या साधन जुटाए जाने हैं। सही सूचना उपलब्ध होने पर भारत का विचारशील और उदारवर्ग अवश्य ही उसका महत्व समझेगा और कार्य को आगे बढ़ाने के लिए योगदान देगा।

मोटी रूपरेखा यह है कि प्रवासी भारतीयों के सांस्कृतिक पोषण के लिए हर देश की स्थिति के अनुसार उनकी वर्तमान मान्यताओं के साथ तालमेल बैठाते हुए, वहाँ की प्रचलित भाषा में ऐसा साहित्य छापा जाना चाहिए जो उनके वर्तमान ज्ञान को ऊँचा उठा सके और भारतीय तत्त्वज्ञान की विशेषताएँ, गरिमाएँ एवं उपयोगिताएँ उनके गले उतार सके। अन्य धर्मावलंबियों के तर्क और आधार आजकल बहुत विकसित हो चुके हैं, सामान्य बुद्धि को भली प्रकार प्रभावित करते हैं। उनकी तुलना में हिंदू धर्म के पक्ष में केवल धिसी-पिटी परंपराएँ ही शेष हैं। ऊहापोह और विचार मंथन का प्रश्न जहाँ आता है, वहाँ हिंदू पिछड़ जाता है। क्योंकि इस प्रकार सोचा और बताया ही नहीं गया कि वह अपनी विशिष्टताओं को समझ सके और दूसरों को समझा सके। अपनी यथार्थ मान्यताओं एवं परंपराओं को ही हम भूल गए हैं। मध्यकालीन अंधकार युग की मूढ़ मान्यताएँ और विकृतियाँ हमारे पल्ले बँधी हैं। उन्हीं को “हिंदू-धर्म” कहा जाता है। इसमें भी इतने परस्पर विरोधी मतांतर हैं कि यह समझना कठिन पड़ता है कि वस्तुतः हिंदू धर्म है क्या? उसकी अगणित विरोधी मान्यताओं में से कौन

वास्तविक है और कौन अवास्तविक? इस संदर्भ में कम से कम एक ग्रंथ तो ऐसा होना चाहिए जो भारतीय धर्म की महान परंपराओं को शास्त्र प्रमाण ढंग से प्रस्तुत कर सके और एक सामान्य बुद्धि का हिंदू समझ सके कि उसके सुविस्तृत शास्त्र समुद्र का सार क्या है? वह सार ऐसा होना अपेक्षित है जो आज की परिस्थितियों में भी सार्वभौम-सार्वजनीन और सर्वकालीन कहा जा सके।

हिंदू धर्म का सप्रमाण, समग्र परिचय देने वाली एक भी सर्वांगपूर्ण पुस्तक हमारे सामने नहीं है, यह कितनी लज्जा की बात है। हम किस प्रकार हिंदू धर्म का प्रचार प्रवासियों और समस्त विश्व में करें, अधी इतना आधार तक नहीं बन पड़ा है। परस्पर विसेषी मान्यताओं में से किसी एक को लेकर चलने पर तो उलटा विग्रह खड़ा होता है। अपने ही लोग बिदकते हैं, फिर बाहर वाले उसे क्योंकर प्रमाणित मानेंगे? भारतीय संस्कृति को विश्व संस्कृति के रूप में, भारतीय धर्म को मान्य धर्म के रूप में प्रस्तुत करने वाले एक सर्वांगपूर्ण ग्रंथ की रचना करने में इन दिनों युग निर्माण योजना के सूत्र संचालक लगे हुए हैं। यह क्रम्य पूरा हो जाने पर एक सुनिश्चित पृष्ठभूमि बन जाएगी और यह कहा जा सकेगा कि भारतीय तत्त्वज्ञान, धर्म और अध्यात्म वह है—हम इसका विश्वव्यापी प्रचार करना चाहते हैं। इसमें प्राचीनकाल की तरह अर्वाचीन समस्याओं को सुलझाने की पूरी शक्ति है। हर कसौटी पर खरा सिद्ध होने वाला ऐसा भारतीय धर्म आज की जलती आग को बुझा सकने में समर्थ हो सकता है और अगले दिनों विश्वधर्म के रूप में सार्वभौम मान्यता प्राप्त कर सकता है।

हिंदू धर्म एक समुद्र है। इसके आचार-विचार में प्रथा-परंपराओं में पूर्व-पश्चिम जितना भेद है। विदेशों में हमें अपने धर्म का ऐसा स्वरूप प्रस्तुत करना चाहिए, जिसमें सर्वत्र एक रूपता देखी जा सके। मुसलमान, ईसाई, पारसी, बौद्ध आदि धर्मों की कुछ मान्यताएँ एवं प्रथा-परंपराएँ हैं जिन्हें संसार के किसी भी कोने में यत्किंचित हेर-फेर के साथ देखा जा सकता है। हमारे देवता, मंत्र, ग्रंथ,

उपासना विधान, पर्व-त्योहार, संस्कार प्रचलन इतने बिखरे हुए हैं कि उनमें एकता की संगति मिलाना अत्यंत कठिन पड़ता है। समय की माँग है कि समस्वरता और एकरूपता वाला ऐसा सर्वांगपूर्ण हिंदू धर्म सामने लाया जाए जो शास्त्रीय प्रमाणों से समर्थित हो, बुद्धि संगत हो, समय की आवश्यकता पूरी कर सके और पूर्व मान्यताओं के साथ संगति बैठाते हुए एकरूपता का आधार बन सके। इस संरचना के लिए समन्वयात्मक दूरदर्शिता की आवश्यकता होगी। बहुत क्रांतिकारी कर देने पर पुरातन पंथी विदकेंगे और बहुत प्राचीन करने पर वह असामयिक हो जाएगा। वस्तुतः आज की स्थिति के अनुरूप हमें ऐसे धर्म प्रतिपादन की आवश्यकता है। जो चिर प्राचीन और चिर नवीन का कुशलतापूर्वक समन्वय कर सके। धर्म तत्त्व का आधार श्रद्धा और भावना है। इस सुकोमल मर्मस्थल को चोट पहुँचाए बिना, अस्तव्यस्त किए बिना, यदि ऐसा ढाँचा खड़ा किया जा सके तो ही इसे जन मान्यता प्राप्त होगी, अन्यथा यह एक वर्ग विशेष की मान्यता बनकर रह जाएगी। अभिनव प्रयास वर्तमान शताब्दी में कितने ही हुए हैं। प्रार्थना समाज, ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि सुधारवादी प्रतिपादनों को जिन कारणों से लोक मान्यता न मिल सकी, हमें उन्हें पूरी तरह ध्यान में रखकर चलना होगा।

अगले दिनों आवश्यकता ऐसे आत्मदानियों की पड़ेंगी जो अति प्राचीनकाल की विश्व सेवा साधना को, बौद्ध कालीन धर्म विजय भावना की अवरुद्ध धारा को अग्रगामी बनाने के लिए अपने को समर्पित कर सकें। ईसाई मिशनरी यही करते हैं। वे कौतुक कौतूहल की पूर्ति के लिए अपने सुसंपन्न देशों को छोड़कर भारत जैसे पिछड़े देश में लंबे समय तक आजीवन रहने के लिए नहीं आते, वरन् उनके पीछे प्रबल भावनाएँ होती हैं और उन्हीं से वे प्रबल नींव के पत्थर बनकर चुपचाप आदिम जातियों के साथ घुल-मिलकर आजीवन कष्टसाध्य परिस्थितियों में रहने को तैयार होते हैं। एक ओर हम हैं, जो

केवल सैर-सपाटे के लिए, लैक्चर झाड़ने के लिए, विज्ञापनबाजी के लिए धर्म की आड़ में विदेश भ्रमण की बात सोचते हैं और उन भोले-भाले लोगों की जेब काटकर पैसा बटोरने की दुरभिसंधियाँ रचते हैं। ऐसे धूर्त लोग धर्म-ध्वजी और योगियों का कलेवर ओढ़कर पिछले दिनों भी विदेश यात्रा पर निकलते रहे हैं, अब भी निकलते रहते हैं। इसी घिनौने मार्ग पर हमारे लोग भी चल पड़े तो समझना चाहिए कि आशा की एक किरण जो बनी थी, वह भी बुझ गई। तब समझा जाएगा कि हमारी धर्म-बुद्धि समाप्त हो गई है और धूर्तता के अतिरिक्त हमारे पास और कुछ नहीं बचा है। हमें शौकीन तबियत के उथली उछल-कूद करने वाले शेखीखोर लोग नहीं सुयोग्य आत्मदानी चाहिए, जो ठीक ईसाई मिशनरियों की तरह अपना जीवन ही उस कार्य के लिए समर्पित कर दें, अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं से पूरी तरह हाथ धो लें।

इस वर्ग के अंतर्गत लोगों को उपरोक्त विशेष प्रयोजन के लिए लंबे समय तक प्रशिक्षित करना पड़ेगा और यदि वे निश्चित कसौटियों पर खरे उतरे तो उन्हें जहाँ-तहाँ प्रचार करने, फिरने की बंदर धूम मचाने के लिए नहीं, वरन् किसी देश विशेष में लंबे समय तक रुकने-बसने की तैयारी के साथ भेजा जाएगा। थाईलैंड में जा बसे स्वामी सत्यानंद जी का उदाहरण इस संबंध में हमारा मार्गदर्शक हो सकता है। वे उसी देश में खप गए और भारत की आत्मा को थाईलैंड के रक्त में मिलाने के लिए अनवरत रूप से बहुमुखी चेष्टाएँ करते रहे। उनका मिशन बहुत सफल रहा। अन्य देशों में भी ऐसे ही मिशनरी भेजे जाने की आवश्यकता है जो कम से कम प्रवासी भारतीयों में हिंदी प्रचार का, सांस्कृतिक परिचय का, धर्मनिष्ठा की परिभाषा की परिपक्वता का, पौरोहित्य का प्रयोजन पूरा करते रह सकें। इससे आगे बढ़कर उनसे उस देश की जनता को भारतीय धर्म में दीक्षित करना न बन पड़े, तो वे उस महान तत्त्वज्ञान को हृदयंगम कराने की पृष्ठभूमि तो बनाते ही रहें। ऐसे लोग अविवाहित

समस्त विष्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ४६ २

होने चाहिए। उनके पत्नी-बच्चों का खरच वहन करना भारी पड़ेगा और वे इस जंजाल में उलझे रहने की स्थिति में कुछ अधिक काम भी न कर सकेंगे।

भारत में रहकर भी विश्व-प्रसार के लिए बहुत बड़ा काम करने की आवश्यकता है। उन-उन देशों के उपयुक्त साहित्य का निर्माण, पत्र व्यवहार, भारत में इस प्रयोजन के लिए उत्साह उत्पन्न करने वाला प्रचार साहित्य निर्यात किए जाने वाले साधनों की व्यवस्था जुटाना, प्रचारकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था, विदेशों से भारत आते रहने वाले संस्कृति प्रेमियों का संपर्क, स्वागत एवं सहयोग, अभीष्ट प्रयोजनों के लिए विविध विधि परिचय साहित्य का प्रस्तुतिकरण—इन प्रयोजनों के लिए दौड़-धूप आदि-आदि अनेक कार्य ऐसे हैं, जिन्हें भारत में रहकर ही करना पड़ेगा। इसके लिए भी आत्मदानी ही चाहिए, वे गृहस्थ भी हो सकते हैं। उनका परिवार लंबा और भाररूप न हो तो वे भी कुछ हाथ बैंटा सकते हैं। ऐसी दशा में उसका भी स्वागत हो सकता है, पर जहाँ तक हो, इस प्रकार के मिशनरी प्रयोजनों में अविवाहित अथवा गृह निवृत्त वानप्रस्थ स्तर के लोग ही ठीक पड़ते हैं। शर्त यह है कि वे उपरोक्त प्रयोजन के लिए सुयोग्य हों, निर्लोभ हों और शारीरिक, मानसिक दृष्टि से स्वस्थ रह रहे हों।

एक कार्य इतने पर भी शेष रह जाएगा। वह है—इस प्रयोजन के लिए अर्थ व्यवस्था का जुटाया जाना। यों इन सब कार्यों को कोई एक धनी भी अपने बलबूते पूरा कर सकता है और धर्म एवं संस्कृति की अत्यंत महत्त्वपूर्ण आवश्यकता को भामाशाह की तरह एकाकी भी पूरा कर सकता है। यदि प्रयोजन की महत्ता समझी जाए तो अशोक के बुद्ध प्रतिपादित धर्मचक्र प्रवर्तन की और मांधाता द्वारा शंकराचार्य के धर्म संस्थापन की पुण्य परंपरा को पुनर्जीवित करना किसी एक धनी व्यक्ति के लिए संभव हो सकता है। ऐसे सुसंपन्न लोगों की भारत में कमी नहीं है।

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / ४६३

यदि एकाकी साहस न जुट सके तो कितने ही छोटे-छोटे सहयोगी मिलकर भी “कन-कन जोरे मन जुरे, बूँद-बूँद से घट भरे” वाली उक्तियाँ चरितार्थ की जा सकती हैं। इसके लिए जन-सहयोग आमंत्रित किया जा सकता है और यह बात सही रीति से, उपयुक्त व्यक्तियों को समझाई जाएँके तो उसकी कुछ न कुछ पूर्ति भी हो सकती है। साधनों के अनुरूप कदम बढ़ाने की बात भी सोची जा सकती है। यों बड़े और दुस्साहसपूर्ण कदम ही बड़े प्रयोजन पूरे कर सकते हैं, पर वैसा न बन पड़े तो न कुछ से कुछ होना भी क्या बुरा है? किसी प्रकार, किसी कदर, कुछ कदम तो हमें बढ़ाने ही पड़ेंगे। शुभारंभ श्रीगणेश तो करना ही होगा।

भगवान करे इस पुस्तक का लेखन और प्रकाशन इस प्रकार का उत्साह भारतीय जन-मानस में उत्पन्न करे जैसा कि भूतकाल में हमारे पूर्वजों द्वारा विश्वकल्याण के लिए उमगता-उफनता रहता था। इसी की संक्षिप्त सी झाँकी प्रस्तुत पुस्तक में है। आशा की जानी चाहिए कि पाठक उससे कुछ ग्रहण करेंगे और सोचेंगे कि उस पुण्य परंपरा को पुनर्जीवित करने में अपनी स्थिति के अनुसार क्या कुछ सहयोग करना संभव है। युग निर्माण योजना, इस दिशा में खुद कदम उठाने जा रही है। आवश्यकता है इस प्रयाण में अन्य कदम भी उठें और कंधे से कंधा मिलाकर इस उत्तरदायित्व का बोझ उठाने के लिए अनेक साहसी, भाव-संपदा से भरे-पूरे शूरवीर आगे आएँ।



मुद्रक : युगनिर्माण योजना, मथुरा।